विवेक-ज्योति

वर्ष ४३ अंक ९ सितम्बर २००५ मूल्य रु. ६.००

रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर (छ.ग.)

मंगल कामना

|| सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुखःभाग्भवेत्॥ ||
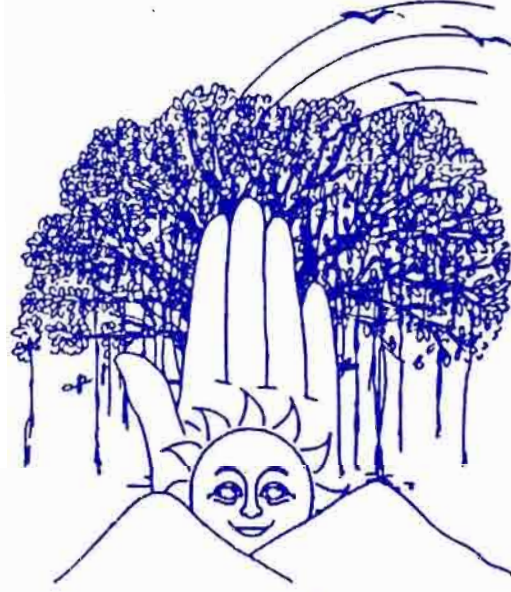
सब सुखी हों।

सब रोगरहित हों।

सब कल्याण का साक्षात्कार करें।

दुःख का अंश किसी को भी प्राप्त न हो।

विवेक-ज्योति

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी मासिक

सितम्बर २००५

प्रबन्ध-सम्पादक

स्वामी सत्यरूपानन्द

सम्पादक

स्वामी विदेहात्मानन्द

वर्ष ४३
अंक ९

वार्षिक ५०/- एक प्रति ६/-

५ वर्षों के लिए — रु. २२५/-

आजीवन (२५ वर्षों के लिए) — रु. १,०००/-

विदेशों में – वार्षिक १५ डॉलर, आजीवन – २०० डॉलर (हवाई डाक से) १०० डॉलर (समुद्री डाक से)

{सदस्यता-शुल्क की राशि का बैंक-ड्राफ्ट - 'रामकृष्ण मिशन' (रायपुर, छत्तीसगढ़) के नाम से ही बनवायें}

रामकृष्ण मिशन
विवेकानन्द आश्रम
रायपुर – ४९२ ००१ (छ.ग.)

दूरभाष : २२२५२६९, ५०३६९५९, २२२४११९
(समय : ८.३० से ११.३० और ३ से ६ बजे तक)

अनुक्रमणिका

मुद्रक : संयोग आफसेट प्रा. लि., बजरंगनगर, रायपुर (फोन : २५४६६०३)

विवेक-ज्योति के आजीवन सदस्य

(पचीसवीं तालिका)

९६०. श्री अमिताभ शर्मा, न्यू राजेन्द्र नगर, रायपुर (छ.ग.)
९६१. बालादत्त जोशी, पाथौरिया, झाँसी (उ.प्र.)
९६२. श्रीराम मन्दिर २४ अवतार, शिवरीनारायण, चाँपा (छ.ग.)
९६३. श्री सुवन प्रकाश कैवर्त, डभरा, जाँजगीर-चाँपा (छ.ग)
९६४. श्री गंगा बिल्डिंग मेटेरियल्स, धौली प्यासे, मथुरा (उ.प्र.)
९६५. डॉ. पंकज एल. पवार, तिलक वाड़ी, यवतमाल (महा.)
९६६. आदर्श बा.नि.उ.मा. विद्यालय, रानीसती रोड, झुंझुनू (राज.)
९६७. वशिष्ट निवास, पाकिट-आर, दिलशाद गार्डेन, दिल्ली
९६८. श्री श्रीराम धुप्पड़, जी.ई.रोड, तेलीबाँधा, रायपुर (छ.ग.)
९६९. श्री अशुतोष तिवारी, मेन रोड, बैंगलोर (कर्नाटक)
९७०. श्रीमती कमल भार्गव, आदर्श नगर, रायपुर (छ.ग.)
९७१. श्रीराजकुमार सिंगला, सेक्टर ११-१२, पानीपत, (हरि.)
९७२. पू. श्रीश्रीमाँ जी, माडल टाऊन, पानीपत, (हरियाणा)
९७३. श्री मनीष मुंशी, डी-१८६१, सुदामा नगर, इन्दौर (म.प्र.)
९७४. श्री विनय वैद्य, ११-१ आनन्देश्वर मार्ग, धार, (म.प्र.)
९७५. श्री जयसिंह एम. आहूजा, हीरानन्द एस्टेट, ठाणे, (महा.)
९७६. श्री लल्लन शर्मा, रामकृष्ण मिशन, वृन्दावन (उ.प्र.)
९७७. श्री बालकृष्ण शर्मा, रामकृष्ण मिशन, वृन्दावन (उ.प्र.)
९७८. श्री जी.एस. मिश्रा, विवेकाननद विद्यापीठ, रायपुर (छ.ग.)
९७९. श्री मंजुल शास्त्री, ओझान, काशीपुर, नैनीताल, (उत्तरांचल)
९८०. कुमार इलेक्ट्रिक्स, पो. वृन्दावन, जिला - मथुरा, (उ.प्र.)
९८१. श्री लड्डूगोपाल अग्रवाल, छिपी गली, वृन्दावन (उ.प्र.)
९८२. डॉ. हरीश एम. सर्राफ, शेगाँव, बुलढाना (महाराष्ट्र)
९८३. अद्वैत दर्शन विभाग, अ.प्र.सिं. विश्वविद्यालय, रीवा (म.प्र.)
९८४. श्री अमृतदास वैष्णव, धौराभाठा, कुण्डेल, धमतरी (म.प्र.)
९८५. विजडम नर्सरी स्कूल, टकना रोड, पिथौरागढ़, (उत्तरांचल)
९८६. श्री पूनम चन्द्राकर, शंकर नगर, रायपुर, (छ.ग.)
९८७. श्री राजेश एस. गुप्ता, सराफा रोड, औरंगाबाद (महा.)
९८८. श्रीमती उषा के. सास्तुरकर, तिलक न., औरंगाबाद (महा.)
९८९. श्री प्रवीर रंजन बारीक, शंकर नगर, रायपुर (छ.ग.)
९९०. श्री धनराज गुलाबराय मंगलानी, गोधरा, पंचमहल (गुज.)
९९१. श्री त्रिलोकी नाथ चौबे, बभनौल, जिला- रोहतास, (बिहार)
९९२. श्री अरुण एस. कुलकर्णी, विनय नगर, नासिक (महा.)
९९३. श्री सुभाष धुप्पड़, स्वामी आत्मानन्द मार्ग, रायपुर (छ.ग.)
९९४. श्री डी. विलास, रेसीडेन्सी एरिया, इन्दौर (म.प्र.)
९९५. श्री ए. के. नायक, सेल्स टैक्स कार्यालय, छिन्दवाड़ा (म.प्र.)
९९६. श्री जयन्त गु. साली, आदिनाथ नगर, औरंगाबाद (महा.)
९९७. श्री अशोक भालेराव, मित्र नगर, औरंगाबाद (महा.)
९९८. श्री संजय प्र. बारगजे, तारक कालोनी, औरंगाबाद (महा.)
९९९. श्री धनंजय जगताप, न्यू ओसमानपुरा, औरंगाबाद (महा.)

लेखकों से निवेदन

पत्रिका के लिये रचना भेजते समय निम्न बातों पर ध्यान दें —

(१) धर्म, दर्शन, शिक्षा, संस्कृति तथा किसी भी जीवनोपयोगी विषय पर रचना को 'विवेक-ज्योति' में स्थान दिया जाता है।

(२) रचना बहुत लम्बी न हो। ऐसी हो कि पत्रिका के दो या अधिक-से-अधिक चार पृष्ठों में आ जाय। पाण्डुलिपि फूलस्केप रूल्ड कागज पर दोनों ओर यथेष्ट हाशिया छोड़कर सुन्दर हस्तलेख में लिखी या टाइप की हुई हो।

(३) लेख में आये उद्धरणों के सन्दर्भ का पूरा विवरण दिया जाय।

(४) आपकी रचना डाक में खो भी सकती है, अतः उसकी एक प्रतिलिपि अपने पास अवश्य रखें। अस्वीकृति की अवस्था में वापसी के लिए अपना पता लिखा हुआ एक लिफाफा भी भेजें।

(५) 'विवेक-ज्योति' में प्रकाशनार्थ कविताएँ इतनी संख्या में आती हैं कि उनका प्राप्ति-संवाद देना सम्भव नहीं होता। स्वीकृत होने पर भी उसके प्रकाशन में ६-८ महीने तक लग सकते हैं।

(६) अनुवादित रचनाओं के मूल स्रोत का पूरा विवरण दिया जाय तथा उसकी एक प्रतिलिपि भी संलग्न की जाय।

(७) 'विवेक-ज्योति' में प्रकाशित लेखों में व्यक्त मतों की पूरी जिम्मेदारी लेखक की होगी और स्वीकृत रचना में सम्पादक को यथोचित संशोधन करने का पूरा अधिकार होगा।

(८) 'विवेक-ज्योति' के लिये भेजी जा रही रचना यदि इसके पूर्व कहीं अन्यत्र प्रकाशित हो चुकी हो या प्रकाशनार्थ भेजी जा रही हो, तो उसका भी उल्लेख अवश्य करें। वैसे इसमें मौलिक तथा अप्रकाशित रचनाओं को ही प्राथमिकता दी जाती है।

सदस्यता के नियम

(१) पत्रिका के नये सदस्य किसी भी माह से बनाये जाते हैं। यदि किसी पिछले अंक से बनना हो, तो सूचित करें।

(२) अपना नाम तथा पिनकोड सहित पूरा पता स्पष्ट रूप से लिखें। नये सदस्य हों, तो लिखें — 'नया सदस्य'।

(३) पत्रिका को निरन्तर चालू रखने हेतु अपनी सदस्यता की अवधि पूरी होने के पूर्व ही नवीनीकरण करा लें।

(४) पत्रिका न मिलने की शिकायत माह पूरा होने पर ही करें। उसके बाद अंक रहने पर ही पुनः प्रेषित किया जायेगा।

(५) अक सुरक्षित पाने हेतु प्रति अंक ६/- रुपये अतिरिक्त खर्च कर इसे वी.पी. पोस्ट से मँगाया जा सकता है। यह राशि प्रति माह अंक लेते समय पोस्टमैन को देनी होगी, अतः इसे हमें न भेजें।

(६) सदस्यता-शुल्क की राशि का बैंक-ड्राफ्ट — **'रामकृष्ण मिशन' (रायपुर, छत्तीसगढ़)** के नाम से ही बनवायें।

(७) सदस्यता, एजेंसी, विज्ञापन या अन्य विषयों की जानकारी के लिये 'व्यवस्थापक, विवेक-ज्योति कार्यालय' को लिखें।

वैराग्य-शतकम्

कृच्छ्रेणामेध्यमध्ये नियमिततनुभिः स्थीयते गर्भवासे
कान्ताविश्लेषदुःखव्यतिकरविषमो यौवने चोपभोगः ।
वामाक्षीणामवज्ञाविहसितवसतिर्वृद्धभावोऽप्यसाधुः
संसारे रे मनुष्या वदत यदि सुखं स्वल्पमप्यस्ति किंचित् ।।३७।।

अन्वय – गर्भवासे अमेध्य-मध्ये नियमित-तनुभिः कृच्छ्रेण स्थीयते; यौवने उपभोगः च कान्ता-विश्लेष-दुःख-व्यतिकर-विषमो, वामाक्षीणाम् अवज्ञा-विहसित-वसतिः वृद्धभावः अपि असाधुः, (अतएव) रे मनुष्याः वदत, संसारे यदि स्वल्पम् अपि किंचित् सुखं अस्ति ।।

भावार्थ – गर्भवास के समय मनुष्य मलमूत्र से पूरित अपवित्र स्थान में शरीर को सिकोड़े रहता है, युवावस्था में उसे अपनी प्रेयसी के वियोग का विषम दुःख झेलना पड़ता है और वृद्धावस्था में भी सुन्दर नेत्रोंवाली नारियों के अवज्ञापूर्ण उपहास का पात्र बनना पड़ता है। हे मनुष्यो, बताओ क्या इस संसार में थोड़ा-सा भी सुख है?

व्याघ्रीव तिष्ठति जरा परितर्जयन्ती
रोगाश्च शत्रव इव प्रहरन्ति देहम् ।
आयुः परिस्रवति भिन्नघटादिवाम्भो
लोकस्तथाप्यहितमाचरतीति चित्रम् ।।३८।।

अन्वय – जरा व्याघ्री इव परितर्जयन्ती तिष्ठति, रोगाः च शत्रवः इव देहम् प्रहरन्ति, आयुः भिन्न-घटात् अम्भ इव परिस्रवति, तथा अपि लोकः अहितम् आचरति, इति चित्रम् ।।

भावार्थ – वृद्धावस्था बाघिन के समान गर्जन करते हुए सामने खड़ी है, रोग आदि भी शत्रुओं के समान शरीर पर आक्रमण कर रहे हैं, जीवन भी छिद्रयुक्त घड़े से पानी के समान बहा जा रहा है, इसके बावजूद लोग अहितकर आचरण में लगे रहते हैं, यह बड़े ही आश्चर्य की बात है।

– भर्तृहरि

आह्वान

(मालकौंस या भैरवी – झापताल)

बीत गयी है मोह-निशा,
त्यागो निद्रा-अज्ञान;
अपने सत् स्वरूप में जागो,
हे अमृत-सन्तान ।।१।।

उदय हो रहा रवि विवेक का
नभ में छायी लाली;
प्रभु का सुमिरन करो, नाम लो
और बजाओ ताली;

इससे ही होगा हम सबका
नित्य परम कल्याण ।
अपने सत् स्वरूप में जागो,
हे अमृत-सन्तान ।।२।।

पूरे करना कर्म सभी, जो भी
जीवन में आयें
छोड़ो मत आदर्श कभी, चाहे
संकट छा जाये;
अन्तर में अनमोल खजाना
करना है सन्धान ।
अपने सत् स्वरूप में जागो,
हे अमृत-सन्तान ।।३।।

ईश्वर ही हैं सत्य जगत् में
दो दिन का यह मेला,
अन्त समय सब छोड़ चलोगे
संग न होगा धेला;
उनके चरणों में 'विदेह'
अर्पित हो तन-मन-प्राण ।
अपने सत् स्वरूप में जागो,
हे अमृत-सन्तान ।।४।।

धर्म-शिक्षा की आवश्यकता (३)

स्वामी विवेकानन्द

(शिक्षा विषय पर अनेक मूल्यवान विचार स्वामीजी के सम्पूर्ण साहित्य में यत्र-तत्र बिखरे पड़े हैं। उन्हीं का बँगला भाषा में एक संकलन 'शिक्षा-प्रसंग' नाम से प्रकाशित हुआ है, जो कई दृष्टियों से बड़ा उपयोगी प्रतीत होता है। शिक्षकों तथा छात्रों – दोनों को ही उससे उक्त विषय में काफी नयी जानकारी मिल सकती है. यहाँ पर हम 'शिक्षा का आदर्श' शीर्षक के साथ क्रमश: उसी का प्रकाशन कर रहे हैं। – सं.)

गुरु और शिष्य

जिस व्यक्ति की आत्मा से दूसरी आत्मा में शक्ति का संचार होता है, वह गुरु कहलाता है और जिसकी आत्मा में यह शक्ति संचारित होती है, उसे शिष्य कहते हैं। किसी भी आत्मा में इस प्रकार शक्ति-संचार करने के लिए जरूरी है कि पहले तो, जिस आत्मा द्वारा यह संचार होता हो, उसमें स्वयं इस संचार की शक्ति मौजूद रहे, और दूसरे, जिसमें यह शक्ति संचारित की जाय, वह इसे ग्रहण करने योग्य हो। बीज सजीव हो एवं भूमि भी अच्छी जुती हुई हो, और जब ये दोनों बातें मिल जाती हैं, तो वहाँ वास्तविक धर्म का अपूर्व विकास होता है। ... ऐसे व्यक्ति ही सच्चे गुरु होते हैं और ऐसे व्यक्ति ही सच्चे शिष्य या आदर्श साधक कहलाते हैं।[१८८] ... फिर शक्ति-संचारक गुरु के सम्बन्ध में तो और भी बड़े खतरे की सम्भावना है। अनेक लोग ऐसे हैं, जो स्वयं तो बड़े अज्ञानी हैं, तथापि अहंकार-वश अपने को सर्वज्ञ समझते हैं; इतना ही नहीं, बल्कि दूसरों को भी अपने कन्धों पर ले जाने को तैयार रहते हैं। इस प्रकार अन्धा अन्धे का अगुआ बन जाता है, फलत: दोनों ही गड्ढे में गिरते हैं –

अविद्यायामन्तरे वर्तमानाः स्वयं धीराः पण्डितं मन्यमानाः ।। जङ्घन्यमानाः परियन्ति मूढाः अन्धेनैव नीयमानाः यथान्धाः ।। – 'अज्ञान से घिरे हुए, अत्यन्त निर्बुद्धि होने पर भी अपने को महा-पण्डित समझने वाले मूढ़ व्यक्ति, अन्धे में चलनेवाले अन्धों के समान चारों ओर ठोकरें खाते हुए भटकते फिरते हैं।[१८९] संसार ऐसे लोगों से भरा पड़ा है। हर आदमी गुरु होना चाहता है। एक भिखारी भी चाहता है कि वह लाखों का दान कर डाले ! जैसे हास्यास्पद ये भिखारी हैं, वैसे ही ये गुरु भी![१९०] ऐसे मनुष्यों की हमें आवश्यकता नहीं। यदि उन्होंने स्वयं धर्मोपलब्धि नहीं की, तो हमें कौन बड़ी शिक्षा दे सकते हैं?[१९१]

उत्तम गुरु

जो 'श्रोत्रिय' हैं – वेदों का रहस्य समझते हैं, और जो 'अवृजिन्' हैं – निष्पाप हैं, जो 'अकामहत' – जिन्हें काम छू भी नहीं गया है, जो तुम्हें शिक्षा देकर तुमसे अर्थ-प्राप्ति की आशा नहीं रखते, वे ही सन्त हैं, वे ही साधु हैं। जैसे वसन्त ऋतु आकर सभी पेड़-पौधों को पत्तियों तथा कलियों से हरा-भरा कर देता है, पर पौधों से प्रतिदान नहीं माँगता, क्योंकि भलाई करना उसका स्वभाव है, वैसे ही वे आते हैं। ... ऐसे ही मनुष्य गुरु हैं और दूसरा कोई गुरु नहीं कहा जा सकता।[१९२]

गुरु के बारे में यह जान लेना जरूरी है कि उन्हें धर्मशास्त्रों का मर्म ज्ञात हो। ... जो गुरु शब्दाडम्बर के चक्कर में पड़ जाते हैं; जिनका मन शब्दों की शक्ति में बह जाता है, वे भीतरी मर्म खो देते हैं। शास्त्रों की वास्तविक आत्मा के ज्ञान से ही सच्चे गुरु का निर्माण होता है।[१९३]

गुरु के लिए दूसरी आवश्यक बात है – निष्पक्षता। बहुधा पूछा जाता है कि हम गुरु के चरित्र और व्यक्तित्व की ओर ध्यान ही क्यों दें? हमें तो यही देखना चाहिये कि वे क्या कहते हैं, और बस, उसी को ग्रहण कर लेना चाहिए। पर यह बात ठीक नहीं।[१९४]

गुरु के सम्बन्ध में पहले तो यह देखना आवश्यक है कि वे कैसे चरित्र के व्यक्ति हैं और तब देखना होगा कि वे कहते क्या हैं। उन्हें पूर्णरूप से शुद्धचित्त होना चाहिए, तभी उनके शब्दों का मूल्य होगा, क्योंकि केवल तभी वे सच्चे संस्कारक हो सकते हैं। यदि स्वयं उनमें ही आध्यात्मिक शक्ति न हो, तो वे संचार ही क्या करेंगे।[१९५] गुरु के लिए तीसरी आवश्यक बात है – उद्देश्य। गुरु को धन, नाम या यश सम्बन्धी स्वार्थ-सिद्धि के हेतु धर्म-शिक्षा नहीं देनी चाहिए। उनके कार्य तो केवल प्रेम से, सारी मानव-जाति के प्रति विशुद्ध प्रेम से ही प्रेरित हों। ... जब देखो कि तुम्हारे गुरु में ये सब लक्षण मौजूद हैं, तो फिर तुम्हें कोई आशंका नहीं। अन्यथा उनसे शिक्षा ग्रहण करना उचित नहीं।[१९६]

उत्तम शिष्य

शिष्य के लिए जरूरी है कि उसमें पवित्रता, सच्ची ज्ञान-पिपासा और अध्यवसाय हो। धार्मिक होने के लिए तन, मन और वचन की शुद्धता परम आवश्यक है।... जिस वस्तु की हम सच्चे दिल से चाह नहीं करते, वह हमें नहीं मिलती। ... उसके लिए तो, जब तक हमारे हृदय में सच्ची व्याकुलता

उत्पन्न न हो जाय, जब तक हमें अपनी प्रवृत्तियों पर विजय न मिल जाय, तब तक सतत अभ्यास और अपनी पाशविक प्रकृति के साथ संग्राम करते रहना होगा। ... जो शिष्य इस प्रकार अध्यवसायपूर्वक साधना में लगता है, उसे सिद्धि अवश्य मिलती है।[१९७] गुरु के प्रति श्रद्धा, नम्रता, विनय तथा आदर के बिना हममें धर्मभाव पनप ही नहीं सकता।[१९८]

ऋषिगण समझ गये थे कि दोषों को दूर करने के लिए कारणों में पहुँचना होगा। ... एक बात तुमको याद रखनी होगी कि जगत् के सभी महान् आचार्य कह गये हैं – "हम नाश करने नहीं आये, पहले जो था उसी को पूर्ण करने आये हैं।" ... वे संसार के समस्त नर-नारियों को अपनी सन्तान के रूप में देखते थे। वे ही यथार्थ पिता थे, वे ही यथार्थ देवता थे, उनका हृदय सभी के लिए अनन्त सहानुभूति और क्षमा से पूर्ण था – वे सदा ही सहने और क्षमा करने को तैयार रहते थे। वे जानते थे कि किस प्रकार मानव-समाज का विकास होना चाहिये; अत: अतीव धैर्य के साथ धीरे-धीरे पर निश्चित रूप से अपनी संजीवनी औषधि का प्रयोग करने लगे। उन्होंने किसी को गालियाँ नहीं दीं, किसी को भय नहीं दिखलाया, पर बड़ी कृपा के साथ धीरे-धीरे वे लोगों को उन्नति की एक-एक सीढ़ी पर उठाते गये।[१९९]

अच्छे संग का प्रभाव

हम लोगों में जो उत्तम संस्कार हैं, वे भले ही अभी अव्यक्त हों, पर सत्संग से वे फिर जाग्रत – व्यक्त हो जायेंगे। **संसार में सत्संग से पवित्र और कुछ भी नहीं है,** क्योंकि सत्संग से ही शुभ संस्कार चित्तरूपी सरोवर की तली से ऊपरी सतह पर उठ आने के लिए उन्मुख होते हैं।[२००]

स्वाधीनता की सार्थकता

स्त्री-पुरुषों के भिन्न-भिन्न चरित्र तथा वर्ग, सृष्टि की स्वाभाविक विविधता मात्र हैं, अत: एक ही आदर्श के द्वारा सबकी जाँच करना या सबके सामने एक ही आदर्श रखना बिल्कुल भी उचित नहीं है। ऐसा करने से मात्र एक अस्वाभाविक संघर्ष उत्पन्न हो जाता है और फल यह होता है कि मनुष्य स्वयं से ही घृणा करने लगता है तथा धार्मिक व भला बनने में बाधा आ जाती है। हमारा कर्तव्य है कि हम हर व्यक्ति को उसके अपने उच्चतम आदर्श को प्राप्त करने में प्रोत्साहित करें तथा उस आदर्श को सत्य के जितना निकटवर्ती हो सके, लाने की चेष्टा करें।[२०१] भय के द्वारा नैतिकता का विकास भला कैसे सम्भव है? ऐसा कभी नहीं हो सकता। ... भय से क्या प्रेम की उत्पत्ति हो सकती है? प्रेम की भित्ति है – स्वाधीनता, मुक्त-स्वभाव होने पर ही प्रेम होता है। जब हम लोग वास्तव में जगत् को स्नेह करना प्रारम्भ करते हैं, तभी विश्व-बन्धुत्व का अर्थ समझते हैं – अन्यथा नहीं।[२०२]

स्वाधीनता ही इसका मूलमंत्र है, स्वाधीनता ही इसका स्वरूप और जन्मसिद्ध अधिकार है। पहले मुक्त बनो, फिर चाहे जितने छोटे-छोटे व्यक्तित्व रखना चाहो, रखो। तब हम लोग रंगमंच पर अभिनेताओं के समान अभिनय करेंगे। एक सच्चा राजा जो भिखारी का अभिनय करता है, उसकी तुलना गलियों में भटकनेवाले वास्तविक भिखारी से करो। यद्यपि देखने में दोनों समान हैं, बातें भी एक जैसी हो सकती हैं, पर दोनों में कितना भेद है! एक व्यक्ति भिक्षुक का अभिनय कर आनन्द ले रहा है और दूसरा सचमुच गरीबी से पीड़ित है। ऐसा भेद क्यों है? इसलिए कि एक मुक्त है और दूसरा बद्ध। राजा जानता है कि उसका भिखारीपन सत्य नहीं है, उसने इसे केवल अभिनय के लिए स्वीकार किया है, परन्तु सच्चा भिखारी जानता है कि यह उसकी चिर-परिचित अवस्था है और उसकी इच्छा हो या न हो, उसे वह कष्ट सहना ही होगा। उसके लिए यह अभेद्य नियम के समान है और इसी कारण उसे कष्ट सहना पड़ता है। जब तक हम अपने स्वरूप का ज्ञान नहीं प्राप्त कर लेते, तब तक हम भिक्षुक मात्र हैं, प्रकृति की प्रत्येक वस्तु ने हमें दास बना रखा है। हम पूरे जगत् में सहायता के लिए गुहार करते फिरते हैं – अन्त में काल्पनिक सत्ताओं से भी सहायता माँगते हैं, पर वह कभी नहीं मिलती; तथापि हम सोचते हैं कि अब सहायता मिलेगी। इस प्रकार हम सर्वदा आशा लगाये बैठे रहते हैं। बस, इसी तरह एक जीवन रोते-कलपते तथा आशा की लौ लगाये बीत जाता है और फिर वही खेल चलने लगता है।[२०३]

मुक्त होओ; किसी अन्य से कुछ आशा मत करो। मैं निश्चित रूप से कह सकता हूँ कि यदि तुम अपने जीवन की अतीत घटनाएँ याद करो, तो देखोगे कि तुम सदैव व्यर्थ ही दूसरों से सहायता पाने की चेष्टा करते रहे, पर कभी पा नहीं सके; जो कुछ सहायता मिली वह तुम्हारे अपने अन्दर से ही आयी थी। जिस कार्य के लिये तुम स्वयं चेष्टा करते हो, उसी का फल पाते हो; तथापि कितना आश्चर्य है कि तुम सदैव ही दूसरे से सहायता की याचना करते रहते हो![२०४]

आवश्यकता है पूर्ण सरलता, पवित्रता, विशाल बुद्धि और सर्वजयी इच्छा-शक्ति की।[२०५] ❖ **(क्रमश:)** ❖

सन्दर्भ-सूची –

१८८. विवेकानन्द साहित्य, (संस्करण १९८९) खण्ड ४, पृ. १७; **१८९**. तथा **१९०**. वही, खण्ड ४, पृ. १९; **१९१**. तथा **१९२**. वही, खण्ड ५, पृ. २३६-३७; **१९३**. तथा **१९४**. वही, खण्ड ४, पृ. २१-२२; **१९५**. तथा **१९६**. वही, खण्ड ४, पृ. २२-२३; **१९७**. वही, खण्ड ४, पृ. २०-२२; **१९८**. वही, खण्ड ४, पृ. २४; **१९९**. वही, खण्ड २, पृ. ७०-७१; **२००**. वही, खण्ड १, पृ. १३५; **२०१**. वही, खण्ड ३, पृ. १६; **२०२, २०३** तथा **२०४**. वही, खण्ड ८, पृ. ३१-३२; **२०५**. वही, खण्ड ४, पृ. २७५

श्रीराम-वाल्मीकि-संवाद (३/१)

पं. रामकिंकर उपाध्याय

(आश्रम द्वारा १९९६-९७ में आयोजित विवेकानन्द-जयन्ती-समारोहों के समय पण्डितजी ने उपरोक्त विषय पर जो प्रवचन दिये थे, यह उसी का अनुलेख है। टेप से इसे लिपिबद्ध करने का श्रमसाध्य कार्य श्रीराम संगीत महाविद्यालय, रायपुर के सेवानिवृत्त प्राध्यापक श्री राजेन्द्र तिवारी ने किया है। – सं.)

प्रभु ने महर्षि वाल्मीकि से प्रश्न किया – "मेरे निवास के लिए आप कोई ऐसा उपयुक्त स्थान बतावें, जहाँ पर मैं तृण-पत्तों से पर्णकुटी का निर्माण करके निवास करूँ।" इसके उत्तर में महर्षि ने प्रभु के निवास के लिए चौदह प्रकार के भक्तों के हृदय की ओर संकेत किया। उन्होंने कहा – "ये जो चौदह प्रकार के भक्त हैं, मैं आपसे प्रार्थना करता हूँ कि आप उनके हृदय में निवास करें।"

महर्षि के बताए हुए स्थानों को सुनकर प्रभु आनन्द और प्रेम-रस में डूब जाते हैं। सर्वप्रथम महर्षि वाल्मीकि ने कथा-श्रवण को सामने रखा। वे बोले – "प्रभो, जिन भक्तों के कान समुद्रवत् हैं, आप उनके हृदय में निवास करें। आपकी कथाएँ ही मानो विविध नदियाँ हैं और जैसे नदियाँ अलग-अलग दिशाओं से बहते हुए अन्त में समुद्र में जाकर विलीन हो जाती हैं, पर समुद्र कभी तृप्त नहीं होता, वैसे ही जो श्रोता भगवत्कथा के विविध रूपों को सुनता हुआ भी कभी तृप्ति का अनुभव नहीं करता, मन में और भी सुनने की आकांक्षा बनी रहती है, आप उनके हृदय में निवास करें।"

तो कथा-श्रवण एक ऐसा माध्यम है कि इसे आप चाहे साधना के रूप में स्वीकार करें अथवा साध्य के रूप में, दोनों ही दृष्टियों से इसका स्वरूप बड़ा ही विलक्षण है।

वस्तुत: भक्ति का अर्थ है अनुराग, और विराग ! – जहाँ राग का अभाव हो वह विराग है। लगता है कि ये दोनों एक-दूसरे से विरोधी वस्तुएँ हुईं। भक्ति की सार्थकता तब है, जब हृदय में अनुराग का उदय हो और वैराग्य की समग्रता तब है, जब राग पूरी तोर से नष्ट हो जाय। पर गहराई से विचार करें तो स्पष्ट हो जाता है कि अनुराग और विराग एक-दूसरे के पूरक हैं। इसलिए दो पद्धतियों से इसकी व्याख्या की जा सकती है। **जब किसी के अन्त:करण में वैराग्य उत्पन्न होता है, तो उसके परिणाम-स्वरूप भगवान के चरणों में अनुराग होता है**। संसार के प्रलोभन से, ब्रह्माण्ड के प्रलोभनों से, ब्रह्मलोक आदि के सुखों से भी जिसके अन्त:करण में राग नहीं रह गया, वही सच्चा विरागी है। **'वैराग्य' एक बड़ा ही गम्भीर और कठिन शब्द है।** लक्ष्मणजी ने भगवान से पूछा – वैराग्य की क्या परिभाषा है? तो इस पर प्रभु ने बताया – जिसने सिद्धि को तृण के समान समझ लिया है –

कहिअ तात सो परम बिरागी ।
तृन सम सिद्धि तीनि गुन त्यागी ।। ३/१४/८

यह बड़ा ही कठिन है। साधक या तपस्वीगण सिद्धियों को प्राप्त करने के लिए साधन करते हैं, तपस्या करते हैं। और उसके द्वारा उन्हें नाना प्रकार की सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं। पुराणों में उन महापुरुषों की, तपस्वियों की कथा है, जिन्होंने तपस्या और योग के द्वारा बड़ी-से-बड़ी सिद्धि प्राप्त कर ली थी। परन्तु उसे क्या सचमुच का वैराग्य माना जायेगा? कहा गया – 'जिनको सिद्धियाँ तिनके के समान लगती हैं।' आप चलकर जब यहाँ आए होंगे, तो न जाने कितने तिनकों से आपके चरणों का स्पर्श हुआ होगा, परन्तु आप उनकी ओर दृष्टि भी नहीं डालते, तो भगवान् कहते हैं कि विरागी वे ही हैं, जिन्हें सिद्धियाँ तृण के समान प्रतीत होती हैं और जो तीनों गुणों से ऊपर उठ चुके हैं।

अब आप विराग की दोनों धाराओं को समझ लें। एक तो यह कि वैराग्य के द्वारा व्यक्ति में ज्ञान का उदय हो, मुक्ति प्राप्त हो। इसलिए ज्ञानदीपक-प्रसंग में बताया गया है कि साधना करते हुए क्रमश: अन्त:करण में वैराग्य का उदय होता है, उसके बाद ज्ञान के अखण्ड सोऽहं-वृत्ति का उदय होता है और उसके बाद भी बड़ी अद्भुत बात लिखी हुई है कि जब कोई व्यक्ति संसार के सभी प्रलोभनों को त्याग करके ज्ञान-दीपक जला देता है, तभी सिद्धियाँ उसमें बाधा डालती हैं। जैसे दीपक जला देना तो एक कार्य है ही, पर उसके बाद कभी-कभी इतनी तेज हवा चलती है, आँधी का ऐसा झोंका आता है कि जला हुआ दीपक भी बुझ जाता है। अब इतनी कठिन साधना के द्वारा वैराग्य और उसके बाद जिस सोऽहं-वृत्ति का उदय हो जाना, प्रकाश हो जाना, यह सब तो ठीक है, पर यह नहीं समझ लेना चाहिए कि इसके बाद अब कोई विघ्न या बाधा नहीं है।

तब वे पंक्तियाँ आती हैं, साधकों के लिए या यों कहिए कि जो वैराग्य की चरम स्थिति में पहुँचे हैं, उन्हीं के लिए उपयोगी है। कहा गया कि ज्ञान तो समग्र है, पूर्ण है, पर

जब कोई व्यक्ति ज्ञानी के रूप में होता है, तो सामने उसका शरीर दिखाई देता है। और शरीर है तो शरीर में इन्द्रियाँ भी हैं और उन इन्द्रियों के साथ-साथ, हमारे पुराण मानते हैं कि अलग-अलग इन्द्रियों के अलग-अलग देवता हैं। तो इन्द्रियों में निवास करनेवाले देवताओं को ज्ञान अच्छा नहीं लगता –

इंद्रिन्ह सुरन्ह न ग्यान सोहाई ।
विषय भोग पर प्रीति सदाई ।। ७/११७/१५

क्यों? – इन्द्रियों के द्वारा ही भोग मिलता है। और देवता भी भोग से ऊपर उठे हुए नहीं हैं। पुण्य के द्वारा वे भोग ही तो पाना चाहते हैं। तो जब वे देखते हैं कि यह व्यक्ति ज्ञान की सर्वोच्च स्थिति में पहुँचनेवाला है, तो उन्हें लगता है कि यह व्यक्ति उस स्थिति में पहुँच जायेगा, तो हमें विषय-भोगों से दूर करके भूखा मार देगा। तब वे क्या करते हैं? विषय-रूपी हवा को आते देखते ही हठपूर्वक द्वारा खोल देते हैं –

आवत देखहिं बिषय बयारी ।
ते हठि देहिं कपाट उघारी ।। ७/११७/१२

समाज में जो विषय-वासना का प्रवाह है, वह तो चल ही रहा है। संसार में अगर ज्ञानी रहे, तो इन्द्रियों में निवास करनेवाले देवता इन्द्रियों के द्वारों को खोल देते हैं। और तब परिणाम क्या होता है? उस द्वार से वासना का तीव्र झोंका भीतर प्रवेश करता है और उसके ज्ञान का दीपक बुझ जाता है। किसी ने कहा – "चलो, खिड़कियाँ बन्द कर दें, आँखें मूँद लें, कान मूँद लें, इन्द्रियों का विरोध करें।" तो वे बोले – "यह केवल बाहर की समस्या नहीं है। ठीक है कि हवा का झोंका हो, तो दीपक बुझ जायगा। दिया ही न जला हो, तब तो बुझने का प्रश्न ही नहीं है, पर यदि आपकी गृहिणी ही दिया बुझाना चाहे, तब? उसे तो बाहर से नहीं आना है, वह तो भीतर है। यह देवियों पर आक्षेप नहीं है। लोगों को भ्रम हो जाता है कि गोस्वामीजी ने नारी-निन्दा की है। वे तो कहते हैं – माया भी नारी है और भक्ति भी नारी है –

माया भगति सुनहु तुम्ह दोऊ ।
नारि बर्ग जानइ सब कोऊ ।। ७/११५/३

अब नारी-निन्दा का अर्थ तो यह हुआ कि वे भक्ति की भी निन्दा करते हैं। पर उनका अभिप्राय है कि **मायामयी नारी दोषयुक्त है और भक्तिमती नारी वन्दनीय है**। जो लोग नहीं समझते, वे कहीं से कोई एक चौपाई लेकर भ्रमित होते हैं।

अपने हृदय में ही एक ऐसी चमत्कृत करनेवाली विलक्षण वृत्ति है, जिसे माया कहते हैं। और वह क्या करती है? खिड़की बन्द है, हवा नहीं आ सकती है, पर दीपक केवल आँधी से ही नहीं, आँचल से भी बुझता है। आँचल की वायु यद्यपि बहुत थोड़ी है, पर दीपक को बुझाने के लिए काफी है। कवि ने काव्य की भाषा में कितनी मधुर बात कह दी है – माया बहुत-सी ऋद्धि-सिद्धियों को भेजती है, जो आकर बुद्धि को प्रलोभित करती हैं और छल-बल से पास जाकर, मानो शृंगार की सुकुमार भावना का आकर्षण देकर अपनी आँचल की वायु से ज्ञान-दीपक को बुझा देती हैं –

रिद्धि-सिद्धि प्रेरइ बहु भाई
बुद्धिहि लोभ दिखावहिं आई ।।
कल बल छल करि जाहिं समीपा
अंचल बात बुझावहिं दीपा । ७/११७/७-८

"ज्योंही तेज हवा हृदय-रूप घर में आती है, त्योंही विज्ञान-रूपी दीपक बुझ जाता है। गाँठ भी नहीं खुली, ज्ञान का प्रकाश भी नहीं मिला और विषय-वायु से बुद्धि भी व्याकुल हो गयी। इस प्रकार ज्ञानदीप बुझ जाने पर जीव अनेक प्रकार से आवागमन का क्लेश पाता है। हरि की माया अति दुस्तर है, इसे पार करना अति कठिन है –

जब सो प्रभंजन उर गृहँ जाई ।
तबहिं दीप बिग्यान बुझाई ।।
ग्रंथि न छूटि मिटा सो प्रकासा ।
बुद्धि बिकल भइ बिषय बतासा ।।
७/११७/१३-१४

तब फिरि जीव बिबिध बिधि पावइ संसृति क्लेस ।
हरि माया अति दुस्तर तरि न जाइ बिहगेस ।। ७/११८

इसका अभिप्राय यह है कि वैराग्य के द्वारा यदि कोई व्यक्ति ज्ञान की स्थिति भी प्राप्त कर ले, तो यह आशंका बनी रहेगी कि ज्ञान के रहते हुए भी सिद्धियों का कोई प्रलोभन, भोगों का कोई आकर्षण उसे विचलित कर दे; वैसे ज्ञान तत्त्वत: तो मिटता नहीं है, लेकिन जैसा भगवान ने दृष्टान्त दिया कि जैसे वर्षा ऋतु में आकाश में बादल छा जाने पर सूर्य का प्रकाश दिखाई नहीं देता, वैसे ही ज्ञान परम प्रकाशमय होते हुए भी वासना से आवृत्त होकर प्रकाश देने की स्थिति में नहीं रह जाता। तो यदि हम वैराग्य के द्वारा उस दिशा में बढ़ेंगे तो यह समस्या है।

और वैराग्य का एक अन्य फल भी है। और वह यह कि दूसरे वैराग्यवान ने अपने अनुराग को संसार के सारे विषयों तथा सिद्धियों से हटाकर उसे भगवान के चरणों में लगा दिया। विराग जब विराग के रूप में हो, तो उसकी रक्षा करना हमारी यानी साधक की भूमिका है। और वैराग्य के बाद जब भगवान के चरणों में अनुराग हो जाता है, तब उसकी रक्षा का भार भक्त पर नहीं, भगवान पर होता है –

जेहि लागि बिरागी अति अनुरागी
बिगत मोह मुनिवृन्दा ।
निसि बासर ध्यावहिं गुन-गन गावहिं
जयति सच्चिदानन्दा ।। १/१८५/छं. २

श्री लक्ष्मण के रूप में जो वैराग्य है, वह तो अनुराग से ही अनुप्राणित है। वहाँ वैराग्य के द्वारा सिद्धियों का तो प्रश्न

ही कहाँ है ! जीवन में कोई आकांक्षा ही नहीं है। और वैराग्य का परिणाम क्या है? – श्रीराम के चरणों में लक्ष्मण का कैसा दिव्य अनुराग है कि संसार की कोई वासना, कोई आकर्षण उन्हें अपनी ओर आकृष्ट ही नहीं कर पाता है। वे चित्रकूट में किस प्रकार चौदह वर्ष रहे –

छिनु-छिनु लखि सियराम पद
जानि आपु पर नेहु ।
करत न सपनेहुँ लखनु चितु
बंधु मातु पितु गेहु।।२/१३९

– प्रति क्षण श्रीसीता और श्रीराम के चरण देखते हुए और अपने ऊपर उनका स्नेह जानते हुए लक्ष्मण जी सपने में भी भाइयों, माता-पिता या घर की याद नहीं करते थे।

इसलिए यह विराग भी है और उसके साथ ही अनुराग भी है। दूसरी भाषा में कहें तो कभी-कभी बड़ा विचित्र लगता है। जब मण्डप में चारों भाइयों का विवाह होता है, तो कहते हैं कि दशरथजी को ऐसी प्रसन्नता हुई मानो किसी ने चारों क्रियाओं के साथ चारों फल पा लिये हों –

मुदित अवधपति सकल सुत
बधुन्ह समेत निहारि ।
जनु पाए महिपाल मनि
क्रियन्ह सहित फल चारि ।। १/३२५

स्वाभाविक रूप से प्रश्न उठता है कि ये चारों भाई चारों फल हैं, तो किस भाई को कौन-सा फल मानें? और तब क्रम की दृष्टि से कह सकते हैं कि श्रीराम मानो मोक्ष का फल हैं। भरतजी मानो धर्म के साक्षात् रूप हैं और लक्ष्मणजी साक्षात् काम के रूप हैं और शत्रुघ्नजी साक्षात् अर्थ हैं।

एक सज्जन बोले – कभी तो आप कहते हैं कि लक्ष्मण काम हैं और कभी कह देते हैं – विराग हैं। फिर वही भ्रम ! लक्ष्मणजी विराग हैं फिर काम भी हैं? यही तो मजा है। संसार के विषयों से विराग होते हुए भी प्रभु के प्रति अनुराग है। इसमें बड़ा सांकेतिक सूत्र है। थोड़े संक्षेप में कहूँगा। जब कहा गया कि महाराज दशरथ ने चारों क्रियाओं के साथ चारों फलों को पा लिया, तो फिर प्रश्न यह है कि इन क्रियाओं के बिना क्या ये फल अधूरे हैं। और बड़ी विचित्र बात है, दशरथजी जब चार पुत्रों को पा चुके, तब उसके बाद अब क्रियाओं को पा रहे हैं। स्वाभाविक तो यह होता कि पहले क्रिया होती, तब उसके फल मिलते ! यहाँ पर पहले भी जब ब्रह्मलीन स्वामी आत्मानन्दजी थे, तब विवाह-प्रसंग के लिए उन्होंने एक महीने का समय आप सबको दिया। उस समय आपने सुना होगा। इसका सूत्र यही है कि वस्तुत: ये चारों फल हैं, उनके चार क्रियाओं का होना अनिवार्य है। इसकी क्रिया क्या हैं? तो मोक्ष का फल यदि श्रीराम हैं तो मोक्ष फल की क्रिया कौन हैं? – सीताजी। सीताजी को तुरीयावस्था कहिए, भक्तिरूपा कहिए, वहाँ वे ज्ञानमयी हैं, ज्ञानरूपा हैं, क्योंकि वे व्यक्ति के अन्त:करण को शुद्ध बनाती हैं –

जनकसुता जगजननि जानकी ।
अतिसय प्रिय करुनानिधान की ।।
ताके जुग-पद कमल मनावउँ ।
जासु कृपाँ निरमल मति पावउँ ।। १/१०/७

इस तरह से मोक्ष की क्रिया है ज्ञान। और धर्म की क्रिया है श्रद्धा। और बड़ा महत्वपूर्ण अन्तर है। ऐसा भी हो सकता है कि कोई व्यक्ति अपने को मुक्त होने का दावा करे, पर मुक्त होने का अर्थ वह उच्छृंखलता मानता हो, यह मानता हो कि वह मुक्त है इसलिए किसी ज्ञान की जरूरत नहीं है, तो यदि कोई व्यक्ति ज्ञान की भाषा भी बोले, यथा रावण। रावण भी तो ज्ञान की भाषा बोलता है। मन्दोदरी उससे कहती है कि आप क्या कर रहे हैं? राम का भजन कीजिए। उसने रावण से कहा कि आप राम को एक व्यक्ति मात्र न समझें, यह सारा ब्रह्माण्ड ही राम का शरीर है। पाताल उनके चरण है, आकाश उनका मस्तक है, सारे लोक उनके विविध अंग हैं, सूर्य उनके नेत्र हैं, मेघ उस विराट् ब्रह्म के केश हैं। मन्दोदरी ने विराट् ब्रह्म का बड़ा विलक्षण वर्णन किया।

श्रोता भी कभी-कभी वक्ता की प्रशंसा करते हैं। रावण ने विराट् ब्रह्म का वर्णन सुना और मन्दोदरी की प्रशंसा करते हुए बोला – वाह, आज तक तो मैंने तुम्हारा प्रवचन सुना ही नहीं था। रावण स्वयं ही तो सबको प्रवचन सुनाता रहता था, मन्दोदरी का वक्तृत्व कभी उसके सामने नहीं आया था। रावण ने कहा – तुम्हारा भाषण तो इतना गम्भीर था कि मुझ जैसे महापण्डित को भी समझने में थोड़ा समय लगा। उसने कहा – वाह, तुम्हारी वाणी सुनने में जैसी है, उसका अर्थ उतना ही नहीं, बल्कि गूढ़ है –

तव बतकही गूढ़ मृगलोचनि ।
समुझत सुखद सुनत भय मोचनि ।। ६/१५/७

रावण बोला – यदि कोई तुम्हारे भाषण को गम्भीरता से सुने तो वह सुखी ही नहीं, संसार से मुक्त भी हो जायेगा। कितनी प्रशंसा का वाक्य है ! मन्दोदरी थोड़ी सावधान हैं। महापण्डितों से थोड़ा डरना भी पड़ता है। पता नहीं वे लोग बात को कब किस दिशा में मोड़ दें। और वही हुआ पहले तो मन्दोदरी को आशा बँधी – अच्छा, अब शायद ये भगवान की भक्ति करेंगे। परन्तु रावण बोला – यह महिमा-वर्णन तो तुमने अयोध्या के राजकुमार का नहीं, मेरा किया है –

जानिउँ प्रिया तोर चतुराई ।
एहि बिधि कहहु मोरि प्रभुताई ।। ६/१५/६

वह दशरथ का पुत्र तो दो हाथोंवाला साधारण मनुष्य है। वास्तविक राम तो मैं हूँ, विराट् ब्रह्माण्ड मेरा ही स्वरूप है। तुमने राम के नाम से जिनकी प्रशंसा की, वह मैं ही हूँ।

रावण वेदान्त के इस सिद्धान्त का प्रतिपादन करता है कि जिस व्यक्ति ने 'शिवोऽहम्', 'रामोऽहम्' या 'अहं ब्रह्मास्मि' – 'मैं ही ब्रह्म ह' – यह जान लिया है, वह भव-बन्धन से छूट जाता है। तुमने बड़ी सुन्दर बात कही। वेदान्त का इतना ऊँचा ज्ञान सुनाया ! प्रारम्भ में मुझे थोड़ा अटपटा लगा कि क्या तुम मेरे शत्रु राजकुमार की प्रशंसा कर रही हो? पर बाद में मुझे पता चला कि महान् पतिव्रता होने के नाते अपने पति रावण का नाम लेना तुम्हें धर्म के विरुद्ध लगा, इसीलिए तुमने मेरा एक नाम 'राम' भी रख लिया है। चलो, मेरे अनेक नाम तो थे ही, एक नाम और जुड़ गया।

तो इसका अभिप्राय है कि रावण जो घोषणा करता है, वह तो वेदान्त की ही घोषणा है। वह कहता है – **भव-मोचनि** – तुम्हारी वाणी संसार से मुक्त करनेवाली है। यदि हमने जान लिया कि हम ब्रह्म हैं, तो मुक्त हो गये। पर क्या सचमुच उसका यही अभिप्राय है? यहाँ मोक्ष शब्दों में तो दिखाई दे रहा है, पर उसके पीछे क्रिया ज्ञान की नहीं, बल्कि अभिमान की है। अभिमान से भी कोई ज्ञानवान लग सकता है, पर उसकी कसौटी एक ही है और वह है – जहाँ सच्चा ज्ञान है, वहाँ अभिमान नहीं होगा –

ग्यान मान जहँ एकउ नाहीं। ३/१४/७

इसलिए देखना होगा कि जिसको मोक्ष फल ही नहीं चाहिए, उसके साथ कहीं अभिमान तो नहीं है? और अभिमान है, तो वह ज्ञान किसी काम का नहीं। इसलिए ज्ञान और मोक्ष। ज्ञान-क्रिया के साथ ही मोक्ष-फल की सार्थकता है। और इसी प्रकार से धर्म फल के साथ उसकी क्रिया भी बहुत आवश्यक है। और धर्म की क्रिया है श्रद्धा –

श्रद्धा बिना धर्म नहिं होई। ७/८९/४

इसका अभिप्राय है कि जो श्रद्धापूर्वक किया जाय, वह धर्म है। और जो कुछ प्रदर्शन के लिए, दिखावे के लिए किया जा रहा है, लग रहा है कि यह धर्म का आचरण कर रहा है, पर उसके पीछे श्रद्धा नहीं है, तो समझ लेना चाहिए कि वह धर्म नहीं, केवल दम्भमात्र है, वह धर्म सच्चा धर्म नहीं है। इसलिए यदि मोक्ष के साथ ज्ञान की क्रिया होनी चाहिए, तो धर्म की सार्थकता तभी है जब उसके पीछे श्रद्धा का भाव निहित हो और तीसरा फल? – वह जो लक्ष्मणजी का काम है। काम की क्रिया क्या है? संसार का प्रत्येक व्यक्ति जानता है कि **काम की क्रिया भोग और शास्त्र की क्रिया योग है**। और इसी में सब कुछ बता दिया गया है। व्यक्ति के जीवन में काम की क्रिया का भोग होगा, तो भोग के द्वारा विकृति, रोग हो सकते हैं। और यदि काम की क्रिया – योग अर्थात् मिलन हो जाय तो? काम में भी तो मिलन की ही आंकाक्षा है। यदि केवल ेोग के निमित्त रूप से मिलन की आकांक्षा है, तो वह क्रिया काम को दोषयुक्त बनायेगी। लेकिन यदि काम में योगक्रिया हो और वह हमें राम से एकाकार कर दे, राम से मिलने की आकांक्षा उत्पन्न कर दे, तो काम की उससे बढ़कर सार्थकता क्या होगी?

इसलिए लक्ष्मणजी को काम कहना उनकी निन्दा नहीं है। हम इस बात को न भूलें कि उनकी क्रिया योग है। कुछ लोग उर्मिलाजी के विषय में चिन्तित रहते हैं और इस पर बहुत कुछ लिखा गया है। एक सज्जन ने एक ग्रन्थ लिखा है – 'मानस में उपेक्षित नारी-पात्र।' वह उनकी अपनी दृष्टि है और हमारे मैथिलीशरणजी ने तो, यह मानकर कि गोस्वामीजी ने उर्मिला की उपेक्षा कर दी है, 'साकेत' के रूप में एक बहुत सुन्दर साहित्यिक रचना कर दी है। पर उर्मिला यदि भोग-क्रिया होतीं, तो उनके मन में वही बात आती जैसा कि कवियों ने लिखा है। पर वे तो योग-क्रिया हैं। और योग-क्रिया की चरम स्थिति में तो व्यक्ति उस ब्रह्म से एकाकार है, अभिन्न है। उसका अभिप्राय यह है कि उर्मिला के जीवन में वियोग की अनुभूति हो, तब तो वियोग का दुख हो। योग-क्रिया के रूप में तो वे निरन्तर ही लक्ष्मण से एकाकार हैं। इसलिए यदि भौतिक धरातल पर आप उसको उस रूप में देखते हैं तो शायद कल्पना कर लें कि लक्ष्मणजी भगवान की सेवा करते-करते याद करते होंगे कि उर्मिला क्या कर रही होंगी ! उर्मिला क्या सोच रही होंगी ! और उर्मिला अयोध्या के महल में बैठकर सोच रही होंगी कि हमारे प्रियतम कहाँ होंगे, कैसे होंगे? भौतिक धरातल पर यह सत्य हो सकता है, लेकिन मानस का तो आध्यात्मिक धरातल है और हमारे उपास्य उस भौतिक धरातल से बहुत ऊपर हैं। इसलिए काम की क्रिया यदि भोग होगी, तो वहाँ पतन होगा। और काम की क्रिया अगर योग है, तो वह भगवान से मिल करके एकाकारता उत्पन्न करता है।

इसी प्रकार सभी जानते हैं कि अर्थ की क्रिया लोभ हैं। लोभ-क्रिया अर्थात् लोभ करो और अधिक-से-अधिक अर्थ या धन एकत्र करो। पर शास्त्र कहते हैं कि लोभ की क्रिया से जो अर्थ मिलेगा, वह अनर्थ करेगा। तो फिर अर्थ के लिए क्या करें? बोले – यज्ञ। बड़ा सुन्दर सूत्र है। **यज्ञ-भावना से धनोपार्जन करना एक बात है और लोभ की वृत्ति से धन पाना दूसरी बात है**। जब हम लोभ के द्वारा धन प्राप्त करेंगे, तो उसको अधिक-से-अधिक एकत्र करके, केवल अपने लिए, मात्र अहंकार या भोग या कृपणता के द्वारा अपने को प्रसन्न करने की चेष्टा करेंगे। पर यदि अर्थ के पीछे यज्ञ की भावना हो, अर्थात् यज्ञ में जैसे समस्त देवताओं को भोग दिया जाता है, सबकी सेवा सबकी पूजा की जाती है, यज्ञ में किसी की उपेक्षा नहीं होती, इसी प्रकार यदि कोई पूर्णत: यज्ञ-भावना से धनोपार्जन करे और वह अर्थ सबकी पूजा के लिए, सम्मान के लिए, सुख के लिए, सेवा के लिए

समर्पित हो, तो वह अर्थ सार्थक है। इसीलिए गोस्वामीजी कहते हैं कि जनकपुर में जाकर ही वस्तुतः इन चारों का दर्शन होता है। अन्यत्र भी अर्थ दिखाई दे सकता है। अन्यत्र भी धर्म दिखाई दे सकता है, काम भी दिखाई दे सकता है और मोक्ष जैसा भी दिख सकता है, लेकिन जब ये चारों अपनी चारों क्रियाओं के साथ हों, तभी समझिए कि ये सही हैं। और चारों क्रियाओं से रहित हों, तो समझ लीजिए कि यह भुलावा है। इसलिए लक्ष्मण वैराग्य हैं और काम भी हैं। दोनों का तात्पर्य एक ही है। वैराग्य हैं, इसलिए संसार से उनका रंचमात्र भी राग, बाह्य सुख में उनका कोई आकर्षण नहीं है। पर उस वैराग्य के साथ काम है और उसके द्वारा वे मानो राम और काम एकरूप हो करके श्रीराम के चरणों में इतने समा गये हैं कि – प्रति क्षण श्री सीताराम के चरणों का दर्शन करते हुए और उनके स्नेह का बोध करते हुए सपने में भी भाइयों, माता-पिता या घर की याद नहीं करते।

यह दोनों सूत्र है। भगवान मेघनाद को मारने की आज्ञा हनुमानजी को छोड़कर लक्ष्मणजी को देते हैं। लक्ष्मणजी भी वैराग्य और हनुमानजी भी वैराग्य। प्रभु चाहते तो मेघनाद को मारने की आज्ञा हनुमानजी को दे देते और मेघनाद यदि किसी से डरता था, तो वे हनुमानजी ही हैं। क्योंकि हनुमानजी ने मेघनाद से कहा था – छोड़ो इन लोगों को, आओ हम दोनों के बीच दो-दो हाथ हो जाय –

बार-बार पचार हनुमाना।
निकट न आव मरमु सो जाना।। ६/५०/४

मेघनाद ने देख लिया था कि इससे लड़ना बहुत खतरनाक है। पहले तो इसने बाग उजाड़ दिया। पिताजी ने मुझे भेजा, तो इसने मेरे रथ को ही नष्ट कर दिया। और रथ के बाद मेरे अस्त्र-शस्त्रों को भी नष्ट कर दिया। तब मेघनाद को लगा था कि इसे परास्त करने के लिए तो ब्रह्मास्त्र का ही प्रयोग करना होगा। और जब उसने ब्रह्मास्त्र का प्रयोग किया और वृक्ष की डाल पर बैठे हनुमानजी नीचे गिरते दिखाई दिए, तो बोला – चलो, इतनी देर बाद तो मैंने विजय पा ली। पर हनुमानजी के गिरने के बाद जो दृश्य उसे दिखाई दिया, तो उसने सिर पीट लिया – न गिराता तो अच्छा था। क्यों? हनुमानजी तो गिरने का नाटक मात्र कर रहे थे। **भगवान के भक्त को भला कौन गिराएगा?** उनके जैसे विरागी को भला कौन गिरायेगा? उन्हें गिरना ही था, तो देख लिया कि मेघनाद की सारी सेना किनारे खड़ी है। और गिरे तो सारी सेना दबकर मर गई –

परतिहुँ बार कटकु संघारा।। ५/१९/१

मेघनाद को लगने लगा कि बड़ा संकट है। जीतता है तो मारता है, हारता है तो भी मारता है। पर इसके बाद भी थोड़ा सन्तोष था, बाँधकर ले गया। वहाँ रावण से संवाद हुआ। और इस संवाद का फल अन्त में क्या हुआ? नगर जल गया। स्वतंत्र था तो बाग उजाड़ दिया और बाँधकर लाया तो नगर उजाड़ दिया। अब इसको लाना किस काम का? बोला – तुमसे तो मैं नहीं लड़ूँगा। लक्ष्मण से वह नहीं डरता था। वह मानता है कि उर्मिला से लक्ष्मण का विवाह हुआ है, गृहस्थ है। ब्रह्मचारी हनुमान से डर लगना स्वाभाविक है, पर गृहस्थ लक्ष्मण से लड़ने में उसे कोई भय नहीं है।

मगर प्रभु बोले – "लक्ष्मण, ब्रह्मचारी जीत ले – यह तो स्वाभाविक है, पर गृहस्थ भी विरागी होकर जीत सकता है, यह सत्य तो तुम्हीं प्रगट कर सकते हो। इसे तुम्हीं मारो तो शोभा है।" और दूसरे अर्थों में देखें, तो एक ओर मानो लंका का काम और दूसरी ओर अयोध्या का काम। अब लक्ष्मणजी को यदि काम मान लें, तो वे वह काम हैं जिसके बारे में भगवान गीता में कहते है कि धर्म के अविरुद्ध काम मैं ही हूँ। इस प्रकार **काम के भी दो रूप हैं – प्रभु की आज्ञा से युद्ध करनेवाले लक्ष्मण और रावण की प्रेरणा से युद्ध करनेवाला मेघनाद** – ज्ञानप्रेरित काम और मोहप्रेरित काम। अयोध्या के काम ने लंका के काम को नष्ट कर दिया। तो दोनों अर्थों में आपको समान आनन्द की अनुभूति होगी। इसलिए मानो विरागी लक्ष्मण अनुरागी हैं और सीताजी अनुरागमयी हैं। भक्ति का तो परिणाम ही अनुराग है। अब चाहे यह माने कि पहले विराग आयेगा तब अनुराग आयेगा, या यह माने कि पहले अनुराग आयेगा तब विराग आयेगा। ❖ (क्रमशः) ❖

पुरखों की थाती

एको ध्यानम् उभौ पाठं त्रिभिर्गीतं चतुःपथम्।
पंच-सप्त कृषिं कुर्यात् संग्रामं बहुभिः जनैः।।

– ध्यान अकेले होता है, पाठ दो लोगों का, गायन तीन का, यात्रा चार का, खेती पाँच-सात का और युद्ध करना बहुत-से लोगों का एक साथ होता है।

उपकर्तुं यथा स्वल्पः समर्थो न तथा महान्।
प्रायः कूपस्तृषां हन्ति न कदापि तु वारिधिः।।

– छोटे लोग व्यक्ति का उपकार करने में जैसे समर्थ होते हैं, वैसे बड़े लोग नहीं होते; जैसे कुँआ ही प्यास बुझाने में समर्थ होता है, समुद्र कभी नहीं।

उत्तमा आत्मना ख्याताः पितुः ख्याता च मध्यमाः।
अधमा मातुलात्ख्याताः श्वशुरात् चाधमाधमाः।।

– श्रेष्ठ लोग अपने कर्म से प्रसिद्ध होते हैं, मध्यम श्रेणी के लोग पिता के नाम से, अधम श्रेणी के लोग मामा के नाम से और निकृष्टतम श्रेणी के लोग अपने ससुर के नाम से प्रसिद्धि पाते हैं।

नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय

स्वामी आत्मानन्द

(ब्रह्मलीन स्वामी आत्मानन्द जी ने आकाशवाणी के चिन्तन कार्यक्रम के लिए विविध विषयों पर अनेक विचारोत्तेजक लेख लिखे थे, जो उसके विभिन्न केन्द्रों द्वारा समय समय पर प्रसारित किये जाते रहे हैं तथा काफी लोकप्रिय हुए हैं। प्रस्तुत लेख आकाशवाणी, रायपुर से साभार गृहीत हुआ है। - सं.)

कृष्ण यजुर्वेद के अन्तर्गत 'श्वेताश्वतर-उपनिषद्' आता है, जिसमें मानव-जीवन की समस्या का विचार और समाधान बड़ी ही काव्यमयी भाषा में किया गया है। जीवन में निहित सत्य की अनुभूति करने वाले ऋषि हर्ष से उच्छलित हो पुकार उठते हैं –

शृण्वन्तु विश्वे अमृतस्य पुत्रा।
आ ये धामानि दिव्यानि तस्थुः ॥ २/५
वेदाहमेतं पुरुषं महान्तम्।
आदित्यवर्णं तमसः परस्तात्।
तमेव विदित्वाऽति मृत्युमेति।
नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय ॥ ३/८

- "हे अमृत के पुत्रगण ! हे दिव्यधामनिवासी देवताओ ! सुनो, मैंने उस अनादि पुरातन पुरुष को पहचान लिया है, जो समस्त अज्ञान अन्धकार और माया से परे है। केवल उस पुरुष को जानकर ही मनुष्य मृत्यु के चक्कर से छूट सकता है। इसके अतिरिक्त दूसरा कोई पथ है ही नहीं।"

वेद के इस मन्त्र से चार बातें ध्वनित होती हैं। पहली यह कि हम अमृत-तनय हैं। दूसरी यह कि उस सत्य-स्वरूप परम पुरुष की उपलब्धि की जा सकती है। तीसरी यह कि परम पुरुष की उपलब्धि ही मनुष्य को मृत्यु-भय से बचाती है। और चौथी यह कि इसके अलावे कोई दूसरा रास्ता नहीं है।

स्वामी विवेकानन्द इस मंत्र पर विचार व्यक्त करते हुए कहते हैं - 'हे अमृत के पुत्रगण !' कैसा मधुर और आशाजनक सम्बोधन है यह ! बन्धुओ, इसी मधुर नाम से मुझे तुमको पुकारने दो। 'हे अमृत के अधिकारीगण', सचमुच, हिन्दू तुम्हें पापी कहना अस्वीकार करता है। तुम तो ईश्वर की सन्तान हो, अमर आनन्द के भागीदार हो, पवित्र और पूर्ण आत्मा हो। तुम इस मर्त्य भूमि पर देवता हो। तुम भला पापी? मनुष्य को पापी कहना ही पाप है। वह मानव स्वभाव पर घोर लांछन है। उठो ! आओ ऐ सिंहो ! इस मिथ्या भ्रम को झटककर दूर फेंक दो कि तुम भेंड़ हो। तुम तो जरा-मरणरहित, नित्यानन्द आत्मा हो ! तुम जड़ पदार्थ नहीं हो। तुम शरीर नहीं हो। जड़ पदार्थ तो तुम्हारा गुलाम है, तुम उसके गुलाम नहीं। उक्त मंत्र वेदों की मूल बात हमारे समक्ष रखता है। वेद ऐसी घोषणा नहीं करते कि यह सृष्टि-व्यापार कतिपय भयावह, निर्दय अथवा निर्मम विधानों का प्रवाह है, और न यही कि वह कार्य-कारण का एक अच्छेद्य बन्धन है; वरन् वे यह घोषित करते हैं कि इन सब प्राकृतिक नियमों के मूल में, प्रत्येक अणु-परमाणु में तथा शक्ति के प्रत्येक स्पन्दन में ओतप्रोत वही एक पुराणपुरुष विराज़मान है, 'जिसके आदेश से वायु चलती है, अग्नि दहकती है, बादल बरसते हैं और मृत्यु पृथ्वी पर इतस्ततः नाचती है।'

मनुष्य तब तक डरता है, जब तक उसे सत्य का पता नहीं रहता। हम मृत्यु से क्यों डरते हैं? - इसलिए कि हमें मृत्यु के सत्य का पता नहीं। पर जब हम मृत्यु के इस सत्य को जान लेते हैं, तब भय खत्म हो जाता है। मृत्यु का यह सत्य क्या है? - पहला यह कि वह अनिवार्य है, ऐसा कोई व्यक्ति या पदार्थ नहीं है, जो मृत्यु का ग्रास न बनता हो। और दूसरा यह कि मृत्यु मानो जीवन का नवीनीकरण है। हम जीर्ण देह को त्यागकर फिर से नयी देह पाते हैं। पुराने फटे कपड़े को उतारकर नये कपड़े पहनने में भला किसे हर्ष नहीं होता? मृत्यु भी तो नये कपड़े पहनने की ही प्रक्रिया है। मृत्यु के सत्य के ये दो पक्ष हैं। जो इन दोनों पक्षों को अच्छी तरह से जान लेता है, वह मृत्यु से भागता नहीं, अपितु उसका स्वागत करता है।

फिर मृत्यु के सत्य को जानने वाला वस्तुतः अपने ही सत्य को जान लेता है। वह अनुभव करता है कि उसका स्वरूप मर्त्य नहीं, दिव्य है, वह समस्त अज्ञान-अन्धकार से परे है। अपने इस स्वरूप को न जानने के कारण ही वह अब तक मृत्यु से डरता था, अपने को पापी समझता था। पर अपने स्वरूप का बोध उसे प्रतीति करा देता है कि मृत्यु शरीर की होती है, वह तो शरीर और मन से परे वह आत्म-तत्त्व है, जो सूर्य से भी प्रभावान् है। मृत्यु-भय केवल आत्मबोध से ही दूर होता है, उसके लिए और कोई रास्ता नहीं।

वेदों का यह बल का, प्रकाश का सन्देश हमारी जड़ता को दूर करेगा और हमारे भीतर आत्मबल को बढ़ाएगा। आज के तनावग्रस्त मानव को आत्मबल की आवश्यकता है। आत्मबल हमारे मनोबल को बढ़ाता है। इसीलिए वेद '**आत्मानं विजानीहि**' का हमें सन्देश प्रदान करते हैं। वेद कहते हैं कि यह आत्मज्ञान केवल मनुष्यों को सुलभ है, देवताओं को भी नहीं। आत्मज्ञान पाने के लिए देवताओं को भी मनुष्य बनना पड़ता है। तभी तो कहा है – "**न हि मानुषात् श्रेष्ठतरं हि किंचित्**" - मनुष्य से श्रेष्ठ अन्य कोई योनि नहीं है।

❑❑❑

विजय हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है (२)

स्वामी सत्यरूपानन्द

(श्री संत गजानन संस्थान अभियान्त्रिकी महाविद्यालय, शेगाँव, महाराष्ट्र में स्वामी सत्यरूपानन्द जी महाराज पिछले कई वर्षों से वहाँ के विद्यार्थियों के मध्य व्याख्यान देने के लिये जाते रहें हैं। किन्हीं-किन्हीं वर्षों में स्वामीजी ने वहाँ के विद्यार्थीयों के लिये व्यक्तित्व विकास सम्बन्धी कार्यशालाएँ भी आयोजित की थीं। कार्यशालाओं में दिये गये कुछ व्याख्यानों को उक्त महाद्यालय ने छोटी छोटी पुस्तिकाओं के रूप में प्रकाशित किया है। क्योंकि कार्यशाला अंग्रेजी भाषा में आयोजित होती रही हैं, अतः पुस्तिकाएँ अंग्रेजी में प्रकाशित हुई है। उनमें से एक पुस्तिका "Born to Win" का हिन्दी अनुवाद रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर, के ब्रह्मचारी जगदीश ने किया है। - सं.)

आत्मनिरीक्षण

सर्वप्रथम, हमें स्मरण रखना होगा कि हमारी चर्चा का विषय है - "विजय हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है", हमने सत्य और शाश्वत जीवन की प्राप्ति के लिए ही जन्म लिया है।

यह विजय हमें बाहर कहीं उपलब्ध नहीं होगी, क्योंकि संग्राम-स्थल स्वयं हमारे भीतर है और हमें अपना संघर्ष इसी युद्धक्षेत्र में करना होगा। हमारा हृदय ही वह युद्धक्षेत्र है।

प्रारम्भ में जब हम अपने भीतर देखते हैं, आत्मनिरीक्षण करते हैं, तब हमें कोई शाश्वत अथवा अमर वस्तु प्राप्त नहीं होती। आइए, हम थोड़ा साहस से काम लें और अपने भीतर उपलब्ध होने वाली घटनाओं एवं तथ्यों का विश्लेषण करें, हम स्वयं से प्रश्न करें – क्या मेरे भीतर यही सब है? यदि हम स्वयं से यह प्रश्न करें, तो उत्तर प्राप्त होगा – "नहीं" अभी भी बहुत सी बातें छूट गई हैं। भीतर की खोज के लिए हमें अत्यन्त सूक्ष्म एवं कठोर, निरीक्षण एवं विश्लेषण की आवश्यकता है। जब हम अपने भीतर निरीक्षण व विश्लेषण करते हैं तब पाते हैं कि हमारे हृदय में अनंत शुभ-अशुभ वासनायें विद्यमान हैं। ये शुभ और अशुभ वासनायें हमारे विजय अभियान की सबसे बड़ी बाधायें हैं। हमें इन शुभ-अशुभ वासनाओं पर विजय प्राप्त कर उनसे निवृत होना होगा।

अनन्त धैर्य / अनन्त अध्यवसाय

हमारे जीवन की समस्याओं को सुलझाने और परम-विजय की प्राप्ति के लिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि हम इस बात को जानें कि हम जीवन में चाहते क्या हैं? बहुधा, हममें से अधिकांश यह नहीं जानते कि हम जीवन में चाहते क्या हैं?

इसका मार्ग है – अपने हृदय के अन्तर्तम प्रदेश में छिपी अपनी प्रमुख इच्छाओं और वासनाओं को ढूँढ़ निकालना। ये गुप्त इच्छायें हमें कभी विश्राम एवं शान्ति में रहने नहीं देंगी। ये गुप्त इच्छायें भीतर से असंख्य इच्छाओं को हमारे चेतन मन में प्रेरित करती रहती हैं और यह सोचकर कि मन में उठ रही इन असंख्य इच्छाओं की पूर्ति हमें शांति एवं विश्राम प्रदान करेगी – हम उन्हें पूरा करने को लगभग विवश हो जाते हैं। किन्तु अपने अनुभवों से हम सभी जानते हैं कि, ऐसा कभी हो नहीं पाता है। ज्यों ही एक इच्छा की पूर्ति होती है, त्यों ही सौ और इच्छायें मन में उठ खड़ी होती हैं, मानों कह रही हों यदि उन्हें पूरा नहीं किया गया तो उनसे पूर्व की इच्छा की पूर्ति हमें संतोष और शान्ति नहीं दे सकती। यह अनन्त चक्र घूमता रहता है और परिणामतः हमारा मन सदैव असंतोष एवं कुंठाओं से पूर्ण रहता है।

आइए, अध्यवसायपूर्वक हम आत्मनिरीक्षण करें और इस बात को जानने का प्रयत्न करें कि वे कौन सी प्रमुख इच्छायें हैं जो हमारे मन में उठती रहती हैं, किन्तु पूर्ण नहीं हो पातीं। जब हम उनमें से कुछ प्रमुख विचारों और वासनाओं की जो हमारे अनचाहे ही हमारे मन में प्रायः उठती रहती हैं – पहचान कर लेते हैं, तब हमें उनका विच्छेदन एवं विश्लेषण, विवेकपूर्वक निर्ममता से करना चाहिए। हम स्वयं से पूछें कि क्या ये वस्तुएँ मेरे जीवन का ध्येय हैं? क्या इन इच्छाओं की पूर्ति मेरे जीवन को धन्यता प्रदान करेंगी एवं मेरे सम्पर्क में आने वाले लोगों के लिए लाभदायक होंगी?

ऐसी इच्छायें जो हमारी बुद्धिमत्ता एवं तर्क की अग्नि-परीक्षा में खरी उतरें, हमारे सम्पर्क में आने वाले सभी लोगों के लिए कल्याणप्रद हों; हमारे स्वयं के लिए आशीर्वाद स्वरूप हों; केवल उन्हीं इच्छाओं का हमें अपने हृदय के अन्तःस्तल में पोषण एवं संवर्धन करना चाहिए।

इन इच्छाओं के अतिरिक्त अन्य सभी विचारों एवं इच्छाओं को जो इनके विपरीत हों, हमें निर्ममतापूर्वक त्याग देना चाहिए।

अनचाहे और अवांछनीय विचारों को त्यागना बहुत कठिन एवं कष्टकारक प्रक्रिया है, किन्तु यदि हम अपने जीवन की गुणवत्ता में सुधार चाहते हैं, अपने व्यक्तित्व के उच्चतर आयामों में आरोहण करना चाहते हैं, जहाँ शुभ एवं शान्ति का वास है - तो हमें यह मूल्य देना ही होगा।

यद्यपि यह कठिन एवं सुदीर्घ काल तक चलने वाली

प्रक्रिया है, तथापि अंततः यह हमें परम विजय के लिए प्रस्तुत कर देती है।

मोर्चों पर पराजय

ऊपर की गई चर्चा विरोधाभासी एव बुद्धि-विलास मात्र प्रतीत हो सकती है, क्योंकि अपने आस-पास दृष्टि डालने पर हम देखते हैं कि मानो वे ही व्यक्ति विजयी हैं, जिन्होने धन संग्रह किया, सत्ता अर्जित की तथा संसार की अनेक सुविधाओं एवं लोगों पर प्रभुत्व प्राप्त किया। क्या यह तथ्य सत्य नहीं है कि करोड़पति राजनैतिक एवं सामाजिक शक्ति-सम्पन्न तथा कला-कौशल में निपुण व्यक्ति ही सफलता, यश एवं संसार की अन्य सुविधाओं का उपभोग करते हैं?

हम कह सकते हैं कि वे विजेता नहीं है? व्यावहारिक दृष्टि से ऐसा लगता है, मानो वे ही वास्तविक विजेता हैं और समाज उनका अनुचर हो गया है। आपाततः ऐसा प्रतीत होता है मानो वे सांसारिक उपलब्धियों एव वैभव से सम्पन्न हैं, किन्तु जब हम इन तथाकथित सफलताओं का गहराई से निरीक्षण करते हैं तो पाते हैं कि किन्हीं नैतिक एवं आध्यात्मिक मूल्यों एवं आदर्शों के बिना अर्जित ये सफलताएँ व्यक्ति को अन्ततः सारहीन एवं पराजित कर देती हैं। अंत में उनका जीवन दुख एवं वेदना का खण्डहर मात्र रह जाता है। सम्भव है, उन्होने कुछ क्षेत्रों में, कुछ सीमा तक, जीवन के कुछ मोर्चों पर विजय प्राप्त की हो, लेकिन अंततः वे जीवन-युद्ध हार बैठते हैं और पराजित हो जाते हैं। इस तरह वे जीवन के परम ध्येय से चूक जाते हैं। केवल पश्चाताप और दुख ही उनके लिए शेष रहता है। विश्व का इतिहास इस बात का साक्षी है। क्या हम तथाकथित महासम्राटों, तानाशाहों, राजाओं और लुटेरे जमींदारों को जिन्होंने हमारी इस धरा को मानव-रक्त से प्लावित किया था – विजेता कह सकते हैं? क्या महान् सम्राट चंड अशोक विजेता था अथवा कलिंगयुद्ध के उपरांत का शांतिदूत, प्रियदर्शी अशोक विजेता था? समस्त संसार एक स्वर में इस बात की घोषणा करता है कि शांतिदूत प्रियदर्शी अशोक वास्तविक विजेता था।

विजयी व्यक्तित्व सांसारिक सम्पत्ति एवं शक्ति के संग्रह का विरोधी नहीं है और न ही वह उसे हेय दृष्टि से देखता है। वह केवल इतना कहता है कि वे उपलब्धियाँ जीवन का परम ध्येय नहीं हैं। वे मानवीय उत्कृष्टता के उत्तुंग शिखर तक पहुँचने हेतु मील के पत्थर सदृश एवं सहायक मात्र हैं।

इस प्रकार; हमने देखा कि सांसारिक उन्नति के साथ ही यदि हम अपने व्यक्तित्व के नैतिक एवं आध्यात्मिक प्रासाद के शिखर को छूने में सफल नहीं होते हैं तो जीवन के सभी मोर्चों पर हमारी पराजय सुनिश्चित है और वह हमें असफलता एवं विनाश की ओर ले जायेगी।

स्वयं को जानो

आइए हम पुनः सूत्र को पकड़ें। हम देखते हैं कि सांसारिक सफलता ही वास्तविक सफलता नहीं है। यदि हमने अपनी आत्मा को खोकर समस्त ससार को प्राप्त कर लिया, तो उससे क्या लाभ? वस्तुतः आत्मा को खोकर हमने अपना जीवन ही खो दिया। आत्मा को खोने का अर्थ है, एक उच्छृखल, निकम्मा एवं अनैतिक जीवन जीना। सांसारिक उपलब्धियों के लिए दौड़ हमें कभी परम संतुष्टि नहीं दे सकती।

हमारा स्वयं के प्रति अज्ञान ही हमारे जीवन की समस्त विपत्तियों और दुखों का कारण है। यह ऐसा है, मानो किसी महानगर में हम पहुँचे जहाँ हमारे रहने, ठहरने एवं हमें सुख पहुँचाने वाली सारी व्यवस्थाएँ की गई हों किन्तु हमें इस बात की जानकारी ही न हो अथवा उस जगह का पता या मार्ग ही न मालूम हो।

क्या परिणाम होगा? हम पग-पग पर विपत्तियाँ झेलते हुए एक स्थाई निवास स्थान हेतु उस महानगर में भटकते फिरेंगे।

वास्तव में यही हमारे साथ हो रहा है, जबकि हम स्वयं को जाने बिना बाह्य संसार को जानने की चेष्टा में लगे हैं। हममें से अधिकांश, बहुधा, बाह्य संसार के विषय में बहुत कुछ जानते हैं। वह ज्ञान हमें भौतिक सुविधा एवं शक्तियाँ तो देता है जिनके द्वारा हम बाह्य प्रकृति का सामना कर पाते हैं, किन्तु अब एक महान् प्रश्न उपस्थित होता है – क्या बाह्य प्रकृति पर विजय से अर्जित सुविधायें और शक्तियाँ हमें किसी परिमाण में अंतः प्रकृति पर नियंत्रण प्रदान करतीं हैं, आंतरिक समरसता और संतोष की बात तो दूर रही? हम सब का अनुभव यह बताता है कि बाह्य प्रकृति पर हमारा कितना ही बड़ा नियंत्रण क्यों न हो वह हमें अंतःप्रकृति पर रत्ती भर भी नियत्रण नहीं देता और यह अतःप्रकृति ही बाह्य संसार से प्रतिक्रिया स्वरूप हमें सुख एवं दुःख का अनुभव कराती है। बाह्य एवं आंतरिक सस्पर्शों से उत्पन्न प्रतिक्रियाओं पर – जिनके लिए हम विवश हैं - क्या हमारा किञ्चिन्मात्र नियन्त्रण है? जब तक हम इस संसार में हैं, क्रिया-प्रतिक्रियायें अवश्य रहेंगी। हमारा उन पर कोई नियंत्रण नहीं है। और जब तक क्रिया-प्रतिक्रियायें हैं तब तक उनका प्रभाव हमारी अंतःप्रकृति पर अथवा व्यक्तित्व पर अवश्य पड़ेगा। बहुधा ये क्रिया-प्रतिक्रियाएँ हमें हमारी सहनशक्ति से परे व्यथित एव दुःखी कर देती हैं। यह इसलिए होता है, क्योंकि हमने अंततः युद्ध में अभी विजय प्राप्त नहीं की है। ❖ (क्रमशः) ❖

वेदान्त-बोधक कथाएँ (३)

(रामकृष्ण संघ के एक वरिष्ठ संन्यासी स्वामी विश्वाश्रयानन्द जी ने वेदान्त के गूढ़-गहन तत्त्वो को अभिव्यक्त करनेवाली कुछ कथाओं को बँगला में लिखकर 'गल्पे वेदान्त' नामक पुस्तक के रूप में प्रकाशित कराया था। बाद में स्वामी अमरानन्द जी ने उसका आँग्ल रूपान्तरण किया। दोनों ही पुस्तकें काफी लोकप्रिय हुई हैं। उन्हीं कथाओं का हिन्दी अनुवाद हम धारावाहिक रूप में प्रस्तुत कर रहे हैं। – सं.)

कुरुक्षेत्र में कृष्ण और अर्जुन

प्राचीन काल में विचित्रवीर्य नाम के एक राजा थे। उनके तीन पुत्र थे – धृतराष्ट्र, पाण्डु और विदुर। इनमें से बड़े पुत्र धृतराष्ट्र जन्म से ही अन्धे थे, इस कारण उन्हें राज्य से वंचित होना पड़ा। फलतः राज्य पाण्डु को मिला। धृतराष्ट्र के सौ पुत्रों में दुर्योधन ज्येष्ठ था। पाण्डु के पाँच पुत्रों में युधिष्ठिर ज्येष्ठ थे। पाण्डु अपनी युवावस्था में ही दिवंगत हो गये। धृतराष्ट्र ने ही अपने सभी पुत्रों तथा भतीजों का पालन-पोषण किया और उनकी समुचित शिक्षा की व्यवस्था की। वैधानिक दृष्टि से युधिष्ठिर ही सिंहासन के उत्तराधिकारी थे, इसलिए दुर्योधन चाहता था कि वे मर जायँ। इस तरह की समस्याओं को मिटाने के प्रयास में धृतराष्ट्र ने राज्य को अपने पुत्रों तथा भतीजों में बाँट दिया।

परन्तु दुर्योधन को राज्य के एक अंग मात्र का राजा होना पसन्द नहीं आया। वह पूरे राज्य का स्वामी होना चाहता था। उसने युधिष्ठिर को द्यूतक्रीड़ा के लिए आमंत्रित किया, जिसमें जीतनेवाला ही हारनेवाले के भाग्य का फैसला करता। धोखे से ही खेल में जीत हासिल करने के बाद उसने पाँचों भाइयों तथा उनकी पत्नी द्रौपदी को वन में भेज दिया। युधिष्ठिर भले आदमी थे, इसलिए उन्होंने सहज भाव से इस बात को स्वीकार कर लिया।

अनेक वर्ष जंगल में बिताने के बाद युधिष्ठिर तथा उनके भाइयों ने अपने हिस्से का राज्य वापस पाने का प्रयास किया। परन्तु दुर्योधन ने साफ इन्कार कर दिया। युधिष्ठिर समझौता करने को राजी थे – वे प्रत्येक भाई के लिए एक गाँव के हिसाब से केवल पाँच गाँव ही चाहते थे। परन्तु दुर्योधन टस-से-मस नहीं हुआ। उसने युधिष्ठिर से स्पष्ट कह दिया कि बिना युद्ध के उन्हें कुछ भी नहीं मिल सकता। और इसी कारण कुरुक्षेत्र के मैदान में दोनों की सेनाएँ आमने-सामने खड़ी हो गयीं।

युद्ध आरम्भ होने के पहले युधिष्ठिर के तीसरे भाई अर्जुन ने अपने सारथी श्रीकृष्ण से कहा कि वे रथ को दोनों सेनाओं के बीच में ले जायँ। श्रीकृष्ण ने वैसा ही किया।

अर्जुन ने देखा कि उनके अनेक सगे-सम्बन्धी, मित्र तथा शुभ-चिन्तक शत्रुओं की ओर खड़े हैं और वे सहसा दुर्बलता से अभिभूत हो गये। हाथ-पाँव शिथिल हो जाने से वे बैठ गये और काँपने लगे। वे श्रीकृष्ण से बोले कि वे तुच्छ सांसारिक वस्तुओं के लिए युद्ध में अपने सम्बन्धियों को नहीं मारेंगे।

श्रीकृष्ण भलीभाँति जानते थे कि अर्जुन कायर नहीं हैं, क्योंकि वे अनेकों बार अपनी बहादुरी दिखा चुके थे। वस्तुतः वर्षों पूर्व द्रौपदी ने अनेक युवा राजकुमारों तथा वीरों की भीड़ में से उन्हीं का अपने पति के रूप में वरण किया था। इसके अतिरिक्त उन्हें गुरु द्रोणाचार्य, देवराज इन्द्र और भगवान शिव से अनेक भयंकर अस्त्र-शस्त्र प्राप्त थे, जिनका वे कुरुक्षेत्र में उपयोग कर सकते थे। अतः उनके लिए भयभीत होने की तो कोई सम्भावना ही नहीं थी।

वस्तुतः अर्जुन में मनोबल काफी था, पर कुछ काल के लिये वे करुणा से अभिभूत हो गये थे और अपनों का ही विनाश आसन्न देखकर वे इस धर्मयुद्ध से विमुख हो गये थे।

श्रीकृष्ण ने समागत युद्ध के लिये अर्जुन के उत्साह को जगाने का प्रयास किया। परन्तु एक बिल्कुल ही अलग मनःस्थिति में थे। वे युद्धक्षेत्र को अलविदा कहकर एक संन्यासी बन जाना चाहते थे। यदि उनके इस आनेवाले नये जीवन के सुख अपने ही सगे-सम्बन्धियों के रक्त से सने हों, तो फिर उसमें उनकी रुचि बिल्कुल भी न थी।

अत: अर्जुन दुविधा में थे। उन्होंने विनयपूर्वक अपने सारथी से सलाह लेने का निश्चय किया और सौभाग्यवश उनके सारथी साक्षात् भगवान ही थे।

श्रीकृष्ण ने उनके वीर-हृदय में क्षत्रिय जाति के महान् कर्तव्य का बोध कराने का प्रयास किया। योद्धा का कर्तव्य कभी-कभी बड़ा कठोर होता है। परन्तु कर्तव्य चाहे जो भी हो, व्यक्ति यदि उसे पूर्ण अनासक्ति के साथ पूरा कर सके, तो वह आध्यात्मिक विकास की सर्वोच्च अवस्था प्राप्त कर सकता है।

श्रीकृष्ण ने अर्जुन को यह भी बताया कि यह बात सत्य नहीं कि किसी व्यक्ति को मारने पर उसके अस्तित्व का लोप हो जाता है; क्योंकि आत्मा अमर होने के कारण वह एक नया शरीर धारण कर लेती है। वेदान्त के मतानुसार आत्मा देह-मन के जाल में फँसकर अहं-भाव को उत्पन्न करती है। ज्ञानी व्यक्ति द्वारा विचार करने पर यह अहंकार लुप्त हो जाता है। इस प्रकार श्रीकृष्ण ने अर्जुन को आध्यात्मिक उन्नति के विभिन्न पथों का निरूपण किया। योग नामक इन मार्गों का अनुसरण करने पर व्यक्ति को सर्वोच्च धन्यता की उपलब्धि हो जाती है। उनकी ये शिक्षाएँ भगवद्-गीता के नाम से प्रसिद्ध हैं।

भक्ति के मार्ग में, साधक कल्पना करता है कि सर्वोच्च ब्रह्म ने एक मानवीय रूप धारण किया है – और वह अपने पूरे हृदय के साथ उस रूप से प्रेम करता है। उसकी सारी कामनाएँ तथा क्रियाएँ उसकी इस चिर-वर्धमान प्रेम का अंग बन जाती हैं। और अन्तत:, जब भक्त अपने प्रियतम में विलीन होने लगता है, तब उसका अपना व्यक्तित्व लुप्त होने लगता है।

एक अन्य मार्ग है – ज्ञान-विचार का मार्ग। अत्यन्त गहन चिन्तन के द्वारा व्यक्ति इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि वह मूलत: शरीर-मन तथा बुद्धि से पृथक् है और वह जन्म या मृत्यु के चक्र से मुक्त है। परम वैराग्य तथा तीक्ष्ण बुद्धिवाला साधक स्वभावत: यही मार्ग अपनाता है।

एक तीसरा मार्ग – मन:संयम का भी है। जो लोग विक्षेपों के बावजूद अपने मन को एकाग्र कर सकते हैं तथा ध्यान के अनुरागी हैं, वे इसी पथ को चुनते हैं। शरीर-रूपी घड़े में मनरूपी जल भरा है। जल यदि शान्त हो, तो उसमें सूर्य का स्पष्ट प्रतिबिम्ब दिखता है, वैसे ही जब मन शान्त होता है, तो उसमें सत्य का स्पष्ट रूप से बोध होता है।

इसके अलावा भी एक मार्ग है – अनासक्त भाव से कर्म का मार्ग। सुख तथा दुख – दोनों ही अवस्थाओं से अनासक्ति के द्वारा दोनों में शान्त रहना और अपने कर्मों के फलों के प्रति उदासीनता – यही इस योग की मुख्य बात है। इस योग के द्वारा व्यक्ति को बोध होता है कि प्रकृति ही शरीर तथा मन को चला रही है। इस मार्ग का योगी एक भक्त का मनोभाव अपनाकर अपने सारे कर्मों को मन-ही-मन ईश्वर को अर्पित कर सकता है, अथवा वह बिना किसी फल की आकांक्षा के मानव-जाति की सेवा में लगा रह सकता है।

श्रीकृष्ण के इन शब्दों ने अर्जुन के मन की भ्रान्ति को दूर कर दिया। वे समझ गये कि उचित भाव के साथ किया गया युद्ध आध्यात्मिक प्रगति के मार्ग में बाधक नहीं बनेगा। उन्होंने नियति द्वारा आयोजित कुरुक्षेत्र के युद्ध में अपना कर्तव्य सम्पन्न करने का निश्चय किया।

आजकल बहुधा यह आलोचना की जाती है कि धर्म ने ही भारत को निष्क्रिय या फिर उसे कायरों की एक जाति में परिणत कर दिया है। गीता की कथा इस छिछली समालोचना का एक समुचित उत्तर है। और जनक तथा शुकदेव की अगली कथा अनासक्त कर्म का एक उत्तम दृष्टान्त है।

जनक और शुकदेव

विभिन्न उपनिषदों में बिखरे हुए प्राचीन ऋषियों के ज्ञानपूर्ण विचारों का सारभूत विश्लेषण ब्रह्मसूत्र के रूप में प्रस्तुत किया गया है। इसके महान् रचयिता व्यासदेव का शुकदेव नामक एक पुत्र था। शिक्षा के माध्यम से उन्होंने अपना सारा ज्ञान अपने पुत्र को हस्तान्तरित कर दिया। किशोरावस्था तक पहुँचते-पहुँचते उसे ब्रह्मज्ञान की भी प्राप्ति हो गयी।

आध्यात्मिक सत्यों के विषय में व्यक्ति की धारणाओं का कभी-न-कभी ज्ञानियों के उपदेश द्वारा सत्यापन भी होना चाहिए। इससे यह सुनिश्चित हो जाता है कि साधक सचमुच ही सर्वोच्च स्थिति में पहुँच गया है। शुकदेव की किशोरावस्था में ही उनके पिता ने उन्हें सुप्रसिद्ध ज्ञानी मिथिला-नरेश जनक के पास भेजा। जनक के उपदेश सुनने के निमित्त शुकदेव ने एकाकी मिथिला की ओर प्रस्थान किया।

जनक को पूर्वाभास हो गया था कि शुकदेव मिथिला की ओर आ रहे हैं और उन्होंने तदनुसार तैयारी भी कर ली।

जब शुकदेव राजा जनक के महल के द्वार पर पहुँचे, तो पहरेदारों ने उनकी ओर विशेष ध्यान ही नहीं दिया। उन लोगों ने उनके बैठने के लिए एक आसन मात्र दिया और उसके बाद उनकी ओर से उदासीन हो गये। वे उसी आसन पर तीन दिनों तक बैठे रहे। विद्वान् पिता के ज्ञानी पुत्र होने के बावजूद महल के कर्मचारियों ने उनमें या उनका परिचय जानने में कोई रुचि नहीं दिखायी।

परन्तु कुछ दिनों बाद सहसा सब कुछ बदल गया। राज्य के कर्मचारियों ने आकर शुकदेव का बड़े धूमधाम से स्वागत किया। वे लोग उस किशोर को एक सजे-सजाये सुन्दर

कमरे में ले गये। अब वह एक सम्मानित अतिथि था और आठ दिनों तक वह बड़े ऐश्वर्य के बीच रहा। तदुपरान्त राज-कर्मचारी पुन: आये और उन्हें जनक के दरबार में ले गये।

परन्तु न तो तीन दिनों की उपेक्षा और न आठ दिनों की विलासिता ही शुकदेव के प्रशान्त भाव को विचलित कर सकी। क्योंकि ज्ञान में प्रतिष्ठित होने के कारण वे सामाजिक आचारों, प्रथाओं आदि से परे जा चुके थे।

वहाँ राजा जनक सिंहासन पर बैठे हुए थे। सुन्दर नारियाँ नृत्य-गीत के द्वारा दरबारियों तथा अतिथियों का मनोरंजन कर रही थीं। इस आमोद-प्रमोद के बीच ही शुकदेव को राजा के समक्ष प्रस्तुत किया गया। जनक ने उनके हाथ में दूध से लबालब भरा हुआ एक कटोरा दिया। उन्होंने शुकदेव से कहा कि वे उस कटोरे को हाथ में लिये हुए उस विशाल सभागृह के भीतर सात चक्कर लगा आयें, पर ध्यान रहे कि दूध की एक बूँद भी फर्श पर न गिरने पाये।

स्पष्टत: बालक से एक बड़ा ही कठिन कार्य सम्पन्न करने को कहा गया था। परन्तु शुकदेव परीक्षा में उत्तीर्ण हुए। सभी प्रकार के सुखद तथा आकर्षक विक्षेपों के बावजूद उनका मन दूध के बर्तन पर ही एकाग्र रहा। वे भरे हुए कटोरे के साथ राजा के पास लौट आये। जनक बड़े सन्तुष्ट हुए। उन्होंने बालक से कहा – "जो तुम पहले से ही जानते हो और जो तुम्हारे पिता ने पहले से ही तुम्हें कुछ बताया है, मैं उसी की पुनरावृत्ति मात्र करते हुए कहता हूँ कि तुम्हें ब्रह्म का सर्वोच्च ज्ञान हो चुका है। तुम्हें सीखने को और कुछ भी नहीं बचा है। अब तुम अपने घर लौट जाओ।"

जिन्हें सर्वोच्च ज्ञान की अनुभूति हो जाती है, उनमें इसी प्रकार की अनासक्ति का भाव आ जाता है। राजा जनक और शुकदेव – दोनों के जीवन में ऐसा ही दीख पड़ता है। चाहे कोई संन्यासी हो या गृही, जो कोई भी आत्मा का ज्ञान प्राप्त करना चाहता है, उसे इसका अभ्यास करना होगा। परन्तु अनासक्ति का अर्थ उदासीनता नहीं है। कर्म में उत्साह और उसके साथ अध्यवसाय भी होना चाहिए। सफलता या विफलता के समय व्यक्ति को हर्षित या उद्विग्न नहीं हो जाना चाहिये। सभी अवस्थाओं में मन की प्रशान्ति को बनाये रखना चाहिए। इसी को श्रीरामकृष्ण 'मन से त्याग' कहा करते थे। अपने गृही भक्तों से वे कहते कि वे मन से ही त्याग करें।

यदि हमारे जीवन में थोड़ी मात्रा में भी यह त्याग तथा अनासक्ति हो, तो वह कहीं अधिक सुखद हो जायेगा। कठिनाइयाँ आयेंगी, शोक तथा दुख हमारे समक्ष उपस्थित होंगे, परन्तु वे हमें अभिभूत नहीं कर सकेंगी। तब हममें ऐसी क्षमता होगी कि उनके बीच अविचलित रहकर उन पर विजय हासिल कर सकें। ❖ **(क्रमश:)** ❖

आदिशक्ति की स्तुति

सुधीर आनन्द श्रीवास्तव

आदिशक्ति परमा प्रकृति, तुम जग की आधार।
भक्तों की रक्षा करो, जननी, हरो विकार।।

तुम ही चिर ॐकार हो, तुम ही नित्य-अभेद,
तुम ही देवी ईश्वरी, तुम ही चारों वेद।
तुम्हीं ज्ञान-अज्ञान हो, तुम्हीं सृष्टि का सार,
भक्तों की रक्षा करो, जननी, हरो विकार।।

ब्रह्ममयी रूद्राणि तुम, अगणित हैं तव रूप,
काली-कमला-पार्वती, करुणामयी अनूप।
तुम ही निर्गुण ब्रह्म हो, और सगुण साकार,
भक्तों की रक्षा करो, जननी, हरो विकार।।

नमन करें तुमको सतत, ब्रह्मा-विष्णु-महेश,
सुर-नर-मुनि वन्दन करें, पावैं कबहूँ न शेष।
तुम ही क्षमा-शिवा-स्वधा, तुम ही मूलाधार,
भक्तों की रक्षा करो, जननी, हरो विकार।।

पुरुषोत्तम श्रीराम तुम, जग-जन-रंजन श्याम,
प्रजापति आदित्य तुम, तुमको नित्य प्रणाम।
मत्स्य-वराह हुई तुम्हीं, नरसिंह का अवतार,
भक्तों की रक्षा करो, जननी, हरो विकार।।

शक्ति शक्तिधर हो तुम्हीं, गायत्री सुखधाम,
दशविद्या, चण्डी तुम्हीं, कालरात्रि तव नाम।
तुम्हीं धर्म की जीत हो, तुम अधर्म की हार,
भक्तों की रक्षा करो, जननी, हरो विकार।।

सप्तऋषि ज्ञानी तुम्हीं, यक्ष-देव अरु शेष,
संहारक तुम रुद्र हो, जय-जय तुम्हीं महेश।
विश्व-रचयिता विधि तुम्हीं, विष्णु सु-पालनहार,
भक्तों की रक्षा करो, जननी, हरो विकार।।

राधा-सीता-भारती, निर्गुण ब्रह्म-स्वरूप,
कालातीता हो तुम्हीं, सभी तुम्हारे रूप।
करुणा करो 'सुधीर' पर, पड़ा तुम्हारे द्वार,
भक्तों की रक्षा करो, जननी, हरो विकार।।

हिन्दू धर्म की रूपरेखा (१५)

स्वामी निर्वेदानन्द

(प्राचीन काल में वैदिक या सनातन धर्म और वर्तमान में हिन्दू धर्म के रूप में प्रचलित धर्म का वास्तविक स्वरूप क्या है और विश्व के अन्य धर्मो से इसमें क्या समानता व भेद है, इसे समझ पाना हिन्दुओं के लिए भी अति आवश्यक है। विद्वान् लेखक ने अपने बँगला तथा अंग्रेजी ग्रन्थ में इस धर्म के मूल तत्त्वों का बड़ा ही सहज निरूपण किया है। उसका हिन्दी अनुवाद क्रमश: प्रस्तुत किया जा रहा है। – सं.)

ईश्वर-तत्त्व

धर्म के पूर्वोक्त प्रधान अंगों में तीसरा है – आध्यात्मिक तत्त्व। आध्यात्मिक तत्त्व का अर्थ है – ईश्वर, प्रकृति तथा जीव के विषय में हिन्दू शास्त्रों तथा ऋषियों द्वारा अनुभूति-सिद्ध तथ्य। अब तक हुई चर्चा के बीच-बीच में हमें इन तथ्यों का थोड़ा आभास मिला है। इस विषय में अब हम थोड़ा विस्तार से चर्चा करेंगे।

यद्यपि हिन्दूओं के देवताओं की संख्या अनगिनत है, तो भी हिन्दुओं के मतानुसार एक और अद्वैत हैं। वस्तुत: वे ही एकमात्र सत् वस्तु हैं। उनके वास्तविक स्वरूप का वर्णन तो दूर की बात, उसकी कल्पना तक नहीं की जा सकती। वे हमारी वाणी तथा मन के परे हैं। **यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह**[१] – जहाँ से हमारी वाणी तथा मन असमर्थ होकर वापस लौट आते हैं।

निश्चय ही वे हमारे परिचित किसी वस्तु के समान नहीं हैं। सभी प्राकृतिक वस्तुएँ ही स्थान-काल के अधीन होती हैं और कार्य-कारण-धारा के अपरिहार्य प्रभाव से उसमें नियत परिवर्तन होता रहता है। इन सभी वस्तुओं का जन्म, वृद्धि तथा क्षय होता रहता है। विभिन्न अंशों के समावेश से इनका उद्भव होने के कारण इनका लय भी अवश्यम्भावी है। परन्तु ब्रह्म (परमात्मा) स्थान, काल तथा कार्य-कारण से परे एक अखण्ड सत्ता। वे अव्यय, अनन्त, चिरमुक्त, शाश्वत तथा इन्द्रियातीत हैं। उन्हें रूप या गुण की सीमा में आबद्ध नहीं किया जा सकता।[२] वे तुरीय हैं। उनके विषय में 'नेति-नेति'[३] के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं कहा जा सकता।

ये ही शास्त्रों में कथित परब्रह्म हैं। परब्रह्म हमारे ज्ञान के गोचर नहीं हैं, परन्तु वे शून्य या कोई अचेतन पदार्थ भी नहीं हैं। यह परम सत्ता अस्तित्व, चैतन्य तथा आनन्द का सार रूप है। रूप-गुण के परे, तुरीय को हिन्दू शास्त्र सच्चिदानन्द की आख्या देते हैं। सृष्टि के पूर्व यह विश्व केवल एक अद्वितीय सत् के रूप में था।[४] ब्रह्म सत्य तथा ज्ञान स्वरूप हैं, ब्रह्म अनन्त हैं।[५] विज्ञान और आनन्द ही ब्रह्म हैं।[६] सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र, विद्युत्, या अग्नि उनके समक्ष प्रभाहीन रह जाते हैं। उन्हीं की ज्योति से यह विश्व आलोकित है। उन्हीं के चैतन्य-छटा से विश्व की प्रत्येक वस्तु हमारी चेतना में उद्भासित होती है।[७] उन्हीं को हमारे कर्णों का कर्ण, मन का भी मन आदि कहा जाता है।[८] वस्तुत: वे ही हमारी अन्तरतम सत्ता हैं। उन्हीं की चेतना के स्पर्श से असंख्य देह-इन्द्रिय-संघात प्राणवान होकर विविध तथा विचित्र जीवों के रूप में कर्तृत्व-भोक्तृत्व के भाव से युक्त हो जाते हैं।[९]

परन्तु परब्रह्म के विषय में शास्त्रों की इतनी उक्तियों के द्वारा भी उनके यथार्थ स्वरूप का वर्णन नहीं हो सका और वैसा होना सम्भव भी नहीं है। इन शास्त्रीय वाक्यों में, बहुत हुआ तो, उस परम इन्द्रियातीत सत्ता का एक सांकेतिक आभास मात्र मिलता है। जिस व्यक्ति ने कभी समुद्र ही नहीं देखा, उसके लिये – "कैसा हिलोरें ले रहा है", "कैसा कल्लोल कर रहा है" – आदि उक्तियाँ समुद्र का रूप स्पष्ट नहीं कर सकतीं। ठीक इसी प्रकार ये शास्त्र-वाक्य परब्रह्म का स्वरूप अभिव्यक्त नहीं कर सकते। वह तो केवल अनुभूति का विषय है। तथापि श्रुति की इन उक्तियों से हम केवल इतनी ही धारणा कर सकते हैं कि निर्गुण ब्रह्म शून्य नहीं हैं, जड़-स्वभाव नहीं हैं; विश्वव्यापी प्रकृति के प्रत्येक पदार्थ तथा अनुभव का मूल तथा आधार उन्हीं में है; वे एक और अद्वितीय हैं। उनमें मैं नहीं है, तुम नहीं है, कर्ता नहीं है, कर्म नहीं है। परब्रह्म निर्गुण हैं। इसीलिये शास्त्र उन्हें स्त्री या पुरुष न कहकर, 'तत्' शब्द से उल्लेख करते हैं।

हिन्दू शास्त्रों के मतानुसार यह परम निराकार सत्ता ही सृष्टि का आदि कारण है। इसी से विश्व की सृष्टि, इसी में स्थिति और इसी में प्रलय होता है।[१०] अनादि काल से विश्व की सृष्टि, स्थिति और प्रलय का इसी प्रकार चक्राकार आवर्तन हो रहा है। जैसे मकड़ी अपने भीतर से जाल बाहर निकालती है, फिर स्वयं में ही उसे समेट लेती है, वैसे ही ईश्वर भी अपनी सत्ता के भीतर से विश्व की सृष्टि करके फिर स्वयं में उसका संहरण कर लेते हैं। जैसे मिट्टी में से पेड़-पौधों का उद्भव होता है, जैसे मनुष्य के शरीर से केश की उत्पत्ति होती है, वैसे ही ईश्वर से इस संसार का आविर्भाव होता है।[११] वे समग्र विश्व को व्याप्त किये हुए हैं – प्रत्येक वस्तु की सत्ता ही ब्रह्म में निहित है।[१२] ईश्वर ने शून्य से इस जगत् की सृष्टि नहीं की है – अपने भीतर से ही इसका प्रक्षेपण किया है। वे ही इस विश्व के निर्माता हैं और वे ही इसके उपादान भी हैं।

परन्तु इस सम्पूर्ण विश्व-ब्रह्माण्ड में भी उनकी समग्र सत्ता अभिव्यक्त नहीं हुई है। यद्यपि यह ब्रह्माण्ड उन्हीं में स्थित है, परन्तु वे इससे पूर्ण स्वतंत्र और निर्लिप्त हैं। "उनके एक अंश से ही यह जगत् हुआ है"[१३] – इस शास्त्र-वाक्य में इसका आभास मिलता है।

इस प्रकार हिन्दू शास्त्रों में तुरीय और सर्वव्यापी – इन दो प्रकार से ईश्वर का उल्लेख प्राप्त होता है। वे अरूप तथा अव्यय है, तथापि वे ही चिर गतिशील प्रकृति के अनन्त रूप -प्रवाह के उद्‌गम भी हैं। सर्वव्यापी ईश्वर के अमोघ शासन से ही प्रकृति की प्रत्येक वस्तु का यथास्थान संरक्षण होता है, प्रत्येक कर्म सुनियंत्रित होता है और सम्पूर्ण विश्व में व्यवस्था तथा सुषमा का अपूर्व सामंजस्य विराजता है।[१४] इन्द्रिय, मन तथा बुद्धि से अगोचर परमात्मा प्रत्येक प्राणी के अन्तर में रहकर उसे नियंत्रित करते हैं। वे अन्तर्यामी हैं और वस्तुतः वे ही हमारी आत्मा हैं।[१५]

विश्व के अस्तित्व के विषय में जब कोई भी बोध नहीं रहता – जैसे कि निर्विकल्प समाधि में – तब निर्गुण, निराकार ब्रह्म की अनुभूति होती है। परन्तु जब तक इस विश्व-प्रपंच का बोध रहता है, तब तक वे ब्रह्म ही इस विश्व के स्त्रष्टा, रक्षक तथा शासक प्रतीत होते हैं। और तब हम उन्हें शक्ति या ईश्वर कहते हैं। ब्रह्म और शक्ति अभेद हैं। ये दोनों एक ही सत्ता की विभिन्न अभिव्यक्तियाँ हैं। जैसे अग्नि से उसकी दाहिका शक्ति को अलग नहीं किया जा सकता, वैसे ही ब्रह्म से भी उसकी रूपायन-शक्ति को अलग करना असम्भव है। चलते हुए और सोये हुए साँप में जैसे कोई वस्तुगत पार्थक्य नहीं है, वैसे ही ब्रह्म तथा शक्ति के बीच भी कोई वस्तुगत भेद नहीं है। जैसे आंगिक मुद्राओं का परिवर्तन व्यक्ति के अस्तित्व को विकृत नहीं करता, वैसे ही ईश्वर की भूमिका भी ब्रह्म के स्वरूप को विकृत नहीं करती।

सगुण ब्रह्म को ही हम शक्ति या ईश्वर कहते हैं। वे ही इस विश्व के सर्वव्यापी सर्वमय कर्ता परमेश्वर हैं। शास्त्र निर्गुण ब्रह्म को सगुण ब्रह्म का सर्वोच्च पद या अवस्था कहते हैं। गीता में श्रीकृष्ण कहते हैं, "वही मेरा परम धाम है।"[१६]

अस्तु। यह सगुण ब्रह्म या ईश्वर ही अधिकांश धर्मों का लक्ष्य है। निराकार ईश्वर अपनी अमोघ इच्छा के द्वारा इस समग्र विश्व के रूप में स्वयं को रूपायित करते हैं। यह उनकी लीला है। वे ही पिता, माता, विधाता, स्त्रष्टा हैं; वे ही गति और गन्तव्य हैं; वे ही भर्ता, प्रभु, साक्षी, आश्रय, शरण तथा परम सुहृद हैं। वे ही स्त्रष्टा, वे ही संहर्ता और वे विश्व के आधार तथा अक्षय कारण हैं।[१७] वे क्षर अर्थात् समस्त विकारों के परे और अक्षर अर्थात् अविनाशी माया-शक्ति के भी अतीत हैं। अव्यय पुरुषोत्तम ही विश्व में प्रविष्ट होकर सबका परिपालन करते हैं।[१८] ईश्वर की आराधना करनेवाले इन पुरुषोत्तम की ही आराधना किया करते हैं।

हिन्दू शास्त्रों के मतानुसार निराकार ब्रह्म अपनी माया के प्रभाव से अनेक और विभिन्न रूपों में अभिव्यक्त होते हैं।[१९] वस्तुतः विश्व के समस्त नाम तथा रूप उन्हीं के हैं। इसके अतिरिक्त उनकी अनेक दिव्य मूर्तियाँ भी हैं, जो शुद्धात्मा व्यक्तियों को अनुभूत होती हैं। भिन्न-भिन्न पोशाकों के समान उनकी इन समस्त दिव्य मूर्तियों के पीछे सर्वदा एक पुरुषोत्तम विराजते हैं। हम लोगों के लिए सुलभ होने के निमित्त से ही वे ये सब रूप धारण करते हैं। इसी उद्देश्य से ही वे भिन्न-भिन्न लोकों में भिन्न-भिन्न मूर्तियों में अवतीर्ण भी होते हैं।

इसीलिए हिन्दू शास्त्रों 'के मतानुसार ईश्वर एक होकर भी अनेक रूपों में प्रकट हुए हैं। यद्यपि वे पूर्ण रूप से निराकार हैं, तथापि वे असंख्य रूपों में प्रकट होते हैं। यद्यपि वे पूर्ण रूप से निर्गुण हैं, तथापि वे समस्त गुणों के उद्‌गम तथा आधार हैं। वे निराकार होकर भी परम पुरुष हैं। जैसे सगुण परमेश्वर की निराकार-बोध से उपासना की जाती है, वैसे ही अनेक विविध रूपों में साकार-बोध के साथ भी उनकी अर्चना की जाती है। इसी कारण हिन्दू लोग आसानी से समझ जाते हैं कि अल्ला, गॉड और ईश्वर एक ही भगवान के विभिन्न नाम हैं।

इसीलिये हिन्दू समाज में ईश्वर-उपासना के क्षेत्र में रुचि का भेद दिखाई देता है। विभिन्न सम्प्रदायों के विभिन्न मत हैं। किसी सम्प्रदाय के मतानुसार ईश्वर निर्गुण तथा निराकार हैं; किसी सम्प्रदाय के मतानुसार वे निराकार होकर भी सगुण हैं। फिर किसी-किसी सम्प्रदाय के मतानुसार वे साकार तथा सगुण हैं। फिर इन सम्प्रदायों में इष्टमूर्ति के निर्वाचन के आधार पर भी आपस में विभेद है – यथा कोई शैव है, कोई वैष्णव है, तो कोई शाक्त आदि।

भगवान तथा उनकी महिमा अनन्त है, अतः उनके पास पहुँचने के मार्ग भी असंख्य हैं। इसीलिये भिन्न-भिन्न भाव से ईश्वर की उपासना करने के उद्देश्य से हिन्दू समाज अनेक सम्प्रदायों तथा उप-सम्प्रदायों में विभक्त हो गया है और यह खूब स्वाभाविक भी है। प्रत्येक व्यक्ति की रुचि, स्वभाव तथा क्षमता के अनुसार ईश्वर-प्राप्ति के लिए भिन्न-भिन्न मार्गों की व्यवस्था में हिन्दू धर्म की ही समृद्धि प्रकट होती है। पर हाँ, किसी भी सम्प्रदाय को यह दावा करने का अधिकार नहीं है कि एकमात्र उसी के द्वारा प्रदर्शित मार्ग सही है। इस प्रकार के दावे के अपरिहार्य फलस्वरूप साम्प्रदायिक कलह होते हैं और इसके परिणाम-स्वरूप हिन्दू समाज की शक्ति का क्षय तथा एकता का नाश होता है। इस प्रकार की

साम्प्रदायिक संकीर्णता से आध्यात्मिकता के पूर्णत: विपरीत हिंसा तथा द्वेष-वृत्ति का निर्लज्ज प्रसार होता है।

वैदिक ऋषियों को यह अनुभूति हुई थी कि ब्रह्म वस्तुत: क्या वस्तु है, इसे कभी मन या वाणी के द्वारा व्यक्त करना सम्भव नहीं है। विभिन्न सम्प्रदाय तथा धर्म उनकी इति नहीं कर सके हैं। प्रत्येक सम्प्रदाय या धर्म मानो एक पृथक् दृष्टिकोण से पारमार्थिक सत्य का एक पृथक् आभास ग्रहण करता है। नि:सन्देह इस प्रकार ग्रहण किया गया प्रत्येक आभास सत्य है, परन्तु यह भी निश्चित है कि वह मन-वाणी के अगोचर परम सत्ता के बारे में समग्र सत्य की अभिव्यक्ति नहीं कर सकता है। ऋग्वेद कहता है – **एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति**[२०] – एक ही सत् को मुनिगण अनेक नामों से पुकारते हैं।

श्रीरामकृष्ण दो सुन्दर कथाओं के माध्यम से इस बात को समझाया करते थे –

"कुछ अन्धे एक हाथी के पास गये थे। एक ने बता दिया, इस चौपाये का नाम हाथी है। तब अन्धों से पूछा गया – हाथी कैसा है? वे हाथी की देह छूने लगे। एक ने कहा – हाथी खम्भे के आकार का है! उसने हाथी का पैर ही छुआ था। दूसरे ने कहा – हाथी सूप की तरह है। उसके हाथ हाथी के कान पर पड़े थे। इसी तरह किसी ने पेट पकड़कर कुछ कहा, किसी ने सूँड़ पकड़कर कुछ कहा। ऐसे ही ईश्वर के सम्बन्ध में जिसने जितना देखा है, उसने यही सोचा है कि ईश्वर बस ऐसे ही हैं, और कुछ नहीं।

"एक आदमी शौच के लिए गया था। लौटकर उसने कहा – 'मैंने पेड़ के नीचे एक सुन्दर लाल गिरगिट देखा।' दूसरे ने कहा – 'तुमसे पहले मैं उस पेड़ के नीचे गया था; परन्तु वह लाल क्यों होने लगा? वह तो हरा है। मैंने अपनी आँखों से देखा है।' तीसरे ने कहा – 'मैं तुम दोनों से पहले गया था, उसको मैंने भी देखा है परन्तु वह न लाल है; न हरा; वह तो नीला है।' और दो थे; उनमें से एक ने बताया पीला, और एक ने, खाकी। इस तरह अनेक रंग हो गए। अन्त में सब में झगड़ा होने लगा। हर एक का यही विश्वास था कि उसने जो कुछ देखा है, वही ठीक है। उनकी लड़ाई देख एक ने पूछा – 'तुम लोग लड़ते क्यों हो?' जब उसने सबकी बात सुनी, तो बोला – 'मैं उसी पेड़ के नीचे रहता हूँ; और उस जानवर को मैं खूब पहचानता हूँ। तुममें से हर एक का कहना सच है। वह कभी हरा, कभी नीला, कभी लाल इस तरह अनेक रंग धारण करता है। और कभी देखता हूँ, कोई रंग नहीं निर्गुण है!' "[२१]

इन सब उपमाओं की सहायता से श्रीरामकृष्ण समझा देते थे कि विभिन्न सम्प्रदायों में ईश्वर के बारे में जो भिन्न-भिन्न धारणाएँ हैं, वे सभी सत्य तो हैं, परन्तु आंशिक रूप से ही।

इससे यह भी ज्ञात होता है कि हिन्दू लोग क्यों असंख्य देवी-देवताओं की अर्चना किया करते हैं। अनेक देवी-देवता एक ही ईश्वर के भिन्न-भिन्न रूप हैं। फिर कोई-कोई अनन्त वैभवशाली ईश्वर के किसी-न-किसी विभूति की मूर्ति है। इसीलिए इनकी अर्चना करने से ईश्वर की ही अर्चना होती है।

बाकी देव-देवियों को देवता कहा जाता है। देवतागण उच्च पदस्थ जीव हैं। पृथ्वी पर विभिन्न प्रकार के पुण्य कर्म करने के फलस्वरूप वे लोग देवत्व को प्राप्त हुए हैं। सर्वप्रथम जिनकी सृष्टि हुई है, वे हिरण्यगर्भ ही देवताओं में सर्वश्रेष्ठ हैं। वे समष्टि बुद्धि हैं। उनका वैभव अनन्त है। वस्तुत: सारा अभिव्यक्त विश्व-ब्रह्माण्ड ही उनके अन्तर्गत आता है। अग्नि, सूर्य आदि देवतागण उनके एक-एक वैभव की मूर्ति रूप हैं। इन विभूतियों के असंख्य होने के कारण देवताओं की संख्या भी असंख्य है। वे सभी हिरण्यगर्भ के अन्तर्गत आते हैं।[२२] इसीलिए किसी भी देवता की उपासना करने से सभी देवताओं की आराधना होती है। ये हिरण्यगर्भ अतुल महिमाशाली विश्वव्यापी सत्ता होकर भी जीव की श्रेणी में ही आते हैं। अत: इन समस्त देवताओं के साथ सनातन सर्वाधीश श्री भगवान को एक ही कोटि में रखना भूल होगी। वैसे, जिस प्रकार मनुष्य को ईश्वर का प्रतीक माना जाता है, उसी प्रकार इन समस्त देवताओं को भी ईश्वर का प्रतीक माना जा सकता है।[२३]

इस प्रकार ईश्वर तथा देवताओं की अगणित मूर्तियों के वैविध्य के बीच हम हिन्दू धर्म की एक मूलभूत एकता का दर्शन कर पाते हैं।

---

१. तैत्तिरीय उप., २/९   २. बृहदारण्यक उप., ३/८/८
३. वही, ३/९/२६   ४. छान्दोग्य उप., ६/३/१
५. तैत्तिरीय उप., २/१/३   ६. बृहदारण्यक उप., ३/९/२८
७. कठ उप., २/२/१५   ८. केन उप., १/१/२
९. कठ उप., १/३/४   १०. तैत्तिरीय उप., ३/६
११. मुण्डक उप., १/१/७   १२. ईश., बृहदा. उप., ३/८/४,११
१३. ऋग्वेद, १०/९०/३; बृहदा. उप., ३/९/२६; गीता, १०/४२
१४. बृहदा. उप., ३/८/९   १५. बृहदारण्यक उप., ३/७
१६. गीता, १५/६   १७. गीता, ९/१७-१८
१८. वही, १५//१७-१८   १९. ऋग्वेद, ६/४७/१८; बृहदारण्यक उप., २/५/१९
२०. ऋग्वेद, १/१६४/४६
२१. श्रीरामकृष्ण-वचनामृत, सं. १९९९ भाग १, पृ. १६२
२२. बृहदा. उप., ३/९/९   २३. वही, अध्याय ११

❖ (क्रमशः) ❖
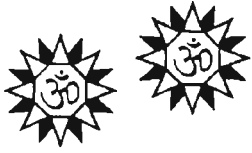
मेरी स्मृतियों में विवेकानन्द (५)
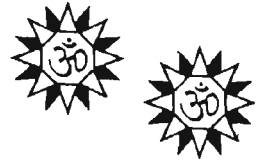
भगिनी क्रिस्टिन

(जो लोग महापुरुषों के काल में जन्म लेते हैं और उनके घनिष्ठ सम्पर्क में आते हैं, वे धन्य और कृतकृत्य हो जाते हैं। भगिनी क्रिस्टिन भी एक ऐसी ही अमेरिकन महिला थीं। स्वामीजी-विषयक उनकी स्मृतियाँ पहले अंग्रेजी मासिक 'प्रबुद्ध भारत' में और बाद में 'Reminiscences of Swami Vivekananda' ग्रन्थ में मुद्रित हुईं, वहीं से इनका हिन्दी अनुवाद क्रमशः प्रकाशित किया जा रहा है। – सं.)

हल्के-फुल्के क्षणों में

परन्तु वे केवल वेदान्त और गहन-गम्भीर विचारों को लेकर ही मग्न नहीं रहते थे। कभी-कभी कक्षा की समाप्ति के बाद ऐसा विशुद्ध हास्य-विनोद होता, जैसा कि हमने कभी पहले कहीं भी नहीं देखा था। हमने सर्वदा गम्भीर रहनेवाले आध्यात्मिक व्यक्तियों की कल्पना की थी, परन्तु धीरे-धीरे हमारी समझ में आया कि यथेच्छा संसार के बोझ को फेंककर एक शिशु के समान आनन्द की अवस्था में रहना अनासक्ति का एक निश्चित लक्षण है और यह केवल उन्हीं लोगों के जीवन में दीख पड़ता है, जिन्होंने उस महान् सत्य की अनुभूति कर ली है। उस समय हम सभी एक साथ मिलकर हल्के-फुल्के क्षण बिताते।

उनके पास रोचक कहानियों का भण्डार ही था, जिनमें से कुछ वे बारम्बार सुनाया करते थे। उनमें से एक, एक मिशनरी के बारे में था, जिसे धर्मप्रचार के लिए नरभक्षियों के द्वीप में भेजा गया था। वहाँ पहुँचकर उसने स्थानीय लोगों से पूछा – मेरा पूर्ववर्ती आप लोगों को कैसा लगा? इस पर उसे उत्तर मिला – "वह बड़ा ही स्वादिष्ट था !" एक दूसरी कहानी एक निग्रो प्रचारक के बारे में थी। उसने आदम की सृष्टि की कथा बता रहा था। वह बोला – "ईश्वर ने आदम को बनाया और उसे सूखने के लिए चहारदीवारी पर डाल दिया।" तभी श्रोताओं में से कोई बाधा डालते हुए बोल उठा – "भाई साहब, जरा ठहरिये। पहले बताइये कि उस चहारदीवारी को किसने बनाया था?" इस पर वह निग्रो प्रचारक मंच पर सामने की ओर झुककर कहता – "अरे भाई, ऐसे प्रश्न करने से तो हमारा पूरा धर्मशास्त्र ही नष्ट हो जायेगा।"

फिर स्वामीजी उस महिला की कहानी भी सुनाते, जिसने पूछा था – "स्वामीजी, क्या आप 'बडिस्ट' (बौद्ध, पर उच्चारण-दोष के कारण अर्थ निकलता है कलियों के विक्रेता) हैं?" इस पर उन्होंने व्यंगपूर्वक मगर गम्भीर मुद्रा बनाकर कहा था – "नहीं मैडम, मैं तो एक 'फ्लोरिस्ट' (पुष्प-विक्रेता) हूँ।"

फिर वे उस युवती की कथा भी सुनाते, जो उसी भवन में निवास करती थी, जिसमें स्वामीजी लैंड्सबर्ग के साथ रहते थे। उस भवन के सभी लोग एक ही रसोईघर में भोजन पकाते थे। उसका पति एक प्रेतात्मवादी मीडियम था और लोगों के समक्ष प्रेतों का आवाहन किया करता था। उस युवती की प्रायः ही अपने पति के साथ झड़प हो जाती। ऐसी झड़पों के बाद वह सहानुभूति पाने के लिए स्वामीजी से पूछती – "मेरे साथ उसका ऐसा दुर्व्यवहार क्या उचित है, जबकि सारे प्रेतों के रूप में मैं ही तो प्रकट होती हूँ?"

स्वामीजी लैंड्सबर्ग से अपनी पहली मुलाकात के बारे में भी बताया करते थे। थियॉसॉफिकल सोसायटी की एक सभा में लैंड्सबर्ग का 'शैतान' के बारे में व्याख्यान हो रहा था। उनके सामने की ही कुर्सी पर लाल वस्त्र पहने एक महिला बैठी थी। लैंड्सबर्ग बीच-बीच में बड़ा जोर देकर 'शैतान' शब्द का उच्चारण करते और जब-जब ऐसा होता, तब-तब निश्चित रूप से उनकी एक ऊँगली लाल वस्त्र पहने उस महिला की ओर उठ जाती।

परन्तु शीघ्र ही, जब वे शकुन्तला की कथा सुनाने लगे, तब हम लोगों ने अपने को एक बिल्कुल ही भिन्न मनःस्थिति में पाया। अहा, वे कितनी कवित्वपूर्ण कल्पना के साथ बता रहे थे ! क्या हम उसके पूर्व भी रोमांस – प्रणय के बारे में कुछ जानते थे? जो कुछ हम जानते थे, वह इस सच्चे प्रणय की तुलना में एक फीकी, धुँधली वस्तु मात्र थी। "शकुन्तला चली गयी है ! शकुन्तला चली गयी है !!" – इस बोध के साथ जब वृक्ष, पुष्प, पक्षी, हिरण तथा अन्य सभी चीजें शोकमग्न हो गयीं, उस समय प्रकृति मानो एक सजीव वस्तु हो उठी थी। हम लोगों ने भी उसके अभाव का बोध किया।

इसके बाद उन सावित्री की कथा आयी, जिसके सतीत्व ने यमराज तक के भय को जीत लिया था। 'मरते दम तक विश्वास' मात्र ही नहीं, बल्कि इतना महान् प्रेम कि जिसके सामने से मृत्यु भी पीछे हट गया। फिर थी सती की कथा, जिन्होंने अपनी भूल से किसी के मुख से अपने पति की निन्दा सुन ली थी। उमा को अपने अगले शरीर में भी यह
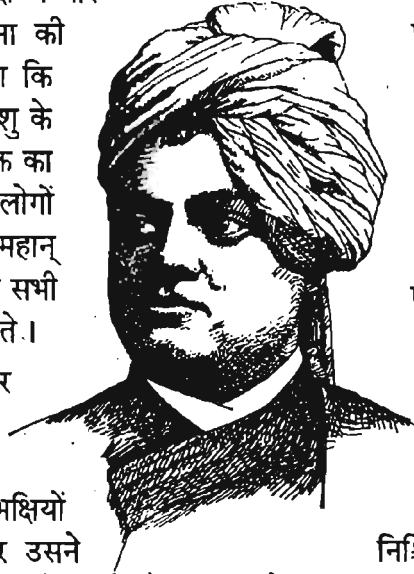
बात याद रही। और सीता के बारे में तो उन्होंने कभी एक साथ ही विस्तार से नहीं बताया और यह उन्हें सावित्री की कथा से भी अधिक भावुक बना देता था। सीताजी की बातें इतनी गम्भीर तथा मूल्यवान थीं कि उन्हें कहकर नहीं बताया जा सकता था। वे बीच-बीच में कुछ शब्द, कोई वाक्य या बहुत हुआ तो एक पैराग्राफ सुनाते। "सीता – पवित्रता, सतीत्व की प्रतिमूर्ति !" "सीता – आदर्श पत्नी। उनके जैसा चरित्र इतिहास में केवल एक बार ही वर्णित हुआ है।" "सीता के आदर्श के अनुसार ही भारतीय नारी का भविष्य गठित होना चाहिये।" और इसके बाद वे द्रवीभूत करुणा के साथ प्रायः इस वाक्य से अपना वक्तव्य समाप्त करते – "हम सभी सीताजी की सन्तान हैं।" इस प्रकार हमारे मन में क्रमशः भारतीय नारी का आदर्श निर्मित हुआ।

कभी-कभी वे हमें भारतीय जीवन के बारे में बताते कि किस प्रकार जब वे एक छोटे बालक थे, तब भी गेरुआ वस्त्र उन्हें इतना अधिक आकृष्ट करता कि उनकी गली में कोई साधु-संन्यासी आने पर, उनके हाथ में जो कुछ भी आता, वह सब दे डालते। ऐसा कोई व्यक्ति मुहल्ले में आने पर उनके परिवार के लोग उनके कमरे में ताला लगा देते। तब वे खिड़की से ही चीजें फेंक देते। कभी-कभी जब वे ध्यान में बैठते, तो उनकी बाह्य चेतना पूर्णतः लुप्त हो जाती। परन्तु उनके जीवन का एक दूसरा पक्ष भी था – जब वे शैतानी करने लगते, तो उनकी माँ उन्हें पकड़कर नल के नीचे बैठा देतीं और कहतीं, "मैंने शिवजी से एक पूत माँगा था और उन्होंने अपना एक भूत भेज दिया !" आगे चलकर जो शक्ति पूरे भारत को हिला देने वाली थी, उसे सहज ही वशीभूत नहीं किया जा सकता था। जब उनके गृहशिक्षक आकर उन्हें पढ़ाने लगते, तो वे आँखें बन्द किये मूर्ति के समान बैठे रहते। नाराज शिक्षक चिल्लाते, "तुम्हारी यह हिम्मत कि मेरे पढ़ाते समय तुम सो जाते हो?" इस पर वे अपनी आँखें खोलकर शिक्षक को विस्मय में डालते हुए सारा पाठ ज्यों-का-त्यों दुहरा डालते। उनकी इस कहानी पर विश्वास करना कठिन नहीं था, क्योंकि उनकी स्मरण-शक्ति अद्भुत थी। किसी के द्वारा इस पर टिप्पणी किये जाने पर उन्होंने कहा था, "हाँ, मेरी माँ की भी ऐसी ही स्मृति है। एक बार रामायण सुनने के बाद वह उसे यथावत् सुना देती है।" एक बार जब वे स्वीडन के इतिहास के किसी बिन्दु पर बोल रहे थे, उस समय वहाँ का एक निवासी भी सुन रहा था और उसने स्वामीजी के कथन में कुछ भूल निकाली। स्वामीजी अपने तथ्यों के बारे में इतने निश्चिन्त थे कि वे मौन रहे, उन्होंने अपने बचाव में कुछ नहीं कहा। अगले दिन वह स्वीडनवासी शर्मिन्दा-सा उनके पास आया और बोला, "स्वामीजी, मैंने जाकर इस विषय में जाँच-पड़ताल की और पाया कि आपका कहना सही था।" ऐसे प्रमाण हमें बारम्बार मिले। अच्छी स्मरण-शक्ति को वे आध्यात्मिकता का एक लक्षण मानते थे।

माता भुवनेश्वरी देवी

वे अपनी छोटी-सी, परन्तु गर्वीली माँ के बारे में बहुत-सी घटनाएँ सुनाते थे कि किस प्रकार वे बड़ी कठिनाई से अपने भावों तथा स्वामीजी के बारे में अपने गर्व को छिपाने का प्रयास करती हैं, किस प्रकार वे उनके चुने हुए मार्ग के प्रति अपनी असहमति और उनके द्वारा अर्जित प्रसिद्धि में गौरव-बोध के बीच द्वन्द में पड़ी रहती हैं। प्रारम्भ में वे चाहती थीं कि उनका पुत्र विवाह करके परम्परागत सांसारिक रूप से एक सफल जीवन बिताये, परन्तु उन्हें ऐसे दिन देखने को मिले जब उनका सर्वत्यागी पुत्र सम्मानित हुआ और राजा-महाराजा तक उसके समक्ष नतमस्तक हुए। परन्तु इस दौरान उन्हें बड़ी कठिनाइयाँ झेलनी पड़ीं। अनेक वर्षों बाद उनसे पूछा गया था कि शिशु के रूप में वे कैसे थे? तो इस पर वे बोल उठीं, "मुझे उसे सँभालने के लिए दो दाइयाँ रखनी पड़ती थीं !"

हममें से जिन कुछ लोगों को उनकी माँ से मिलने का सौभाग्य हुआ था, वे जानते हैं कि उन्हें अपना राजकीय व्यक्तित्व अपनी माँ से विरासत में मिला था। इन छोटी-सी महिला का चाल-चलन एक महारानी के समान था। बाद के वर्षों में अमेरिकी समाचार-पत्रों ने अनेकों बार उनके पुत्र का उल्लेख 'राजासदृश संन्यासी विवेकानन्द' के रूप में किया था। उनमें एक कुमारी जैसी पवित्रता थी, जिससे लगता था मानो वे दूसरों में भी संचरित कर देने में सक्षम हैं और सम्भवतः यही उनका महानतम उपहार था। परन्तु इतनी महान् विभूति को क्या एक उपयुक्त परिवेश मिल सकता था? भारत और ऐसे माता-पिता से उन्हें काफी सन्तोषजनक रूप से वह प्राप्त हुआ। अपनी माता के प्रति उनका प्रेम कितना अगाध था ! जब वे भारत के अन्य प्रान्तों में भ्रमण कर रहे होते, तो कभी-कभी उनके मन में आशंका होती कि कहीं उन्हें कुछ हुआ तो नहीं है। और वे उनके बारे में जानकारी मँगवाते। या फिर यदि बेलूड़ मठ में रहते, तो तत्काल एक सन्देशवाहक भेज देते। अपने अन्तकाल तक उनकी एक प्रमुख चिन्ता थी कि किस प्रकार माँ की सुविधा और देखभाल की व्यवस्था की जाय।

इस प्रकार सम्भवतः कई दिनों तक हम लोगों के लिए कोलकाता में सिमला अंचल में स्थित उनके पिता के मकान में बिताये गये उनके बचपन के दिन सजीव हो उठे थे। अपनी बहनों के लिए उनके लिए विशेष प्रेम था और पिता के प्रति श्रद्धा का भाव था। इनका उल्लेख भी बारम्बार आ जाता था। उन्होंने कहा था, "अपनी मेधा तथा दयाभाव के लिए मैं अपने पिता का ऋणी हूँ।" वे बताते कि कैसे उनके पिता यह जानकर भी एक शराबी को पैसे देते कि वह इन्हे किस काम में

लगायेगा। और अपने बचाव में वे कहते, "यह जगत् इतना भयंकर स्थान है कि यदि वह किसी प्रकार इसे कुछ समय के लिए भूल जाता है, तो उसे वैसा ही करने दो।" उनके पिता धन खर्च करने में बड़े उदार थे। एक बार जब वे अन्य दिनों की अपेक्षा अधिक खुले हाथ से खर्च कर रहे थे, तो उनके किशोर पुत्र ने पूछा, "पिताजी, आप मेरे लिए क्या छोड़कर जायेंगे?" पिता बोले, "जाओ, दर्पण के सामने खड़े होकर देखो, तुम्हें पता चल जायेगा कि मैं तुम्हारे लिये क्या छोड़कर जाऊँगा।"

ज्यों-ज्यों वे किशोरावस्था में प्रवेश करने लगे, त्यों-त्यों उनकी ऊर्जा अन्य दिशाओं में उन्मुख होने लगीं। एक समय ऐसा भी आया था, जब वे अपने मित्रों को एकत्र करके धार्मिक अनुष्ठानों का आयोजन करते और उनमें धर्मचर्चा भी हुआ करती थी। "पूत के पाँव पालने में ही दिख जाते हैं।" वर्षों बाद श्रीरामकृष्ण ने कहा था कि यदि उन्होंने लगाम नहीं कसी होती, तो नरेन एक नये सम्प्रदाय का संस्थापक और विश्व के महानतम धर्म-प्रचारकों में से एक होता।

ईश्वर की आरम्भिक खोज

ज्यों-ज्यों उसकी आयु बढ़ने लगी, त्यों-त्यों वह बड़े उत्साहपूर्वक हर्बर्ट स्पेंसर के विचारों को पढ़कर अज्ञेयवादी हो गया। उनके साथ उसका कुछ पत्र-व्यवहार भी हुआ था। परन्तु चाहे वे अज्ञेयवादी रहे हों या भक्त, उनका मन सदैव ही ईश्वर की खोज में लगा रहा। वे बड़े ही भावुकतापूर्वक बताते कि कैसे वे एक से दूसरे धर्माचार्य के पास जाकर पूछते, "महाशय, क्या आपने ईश्वर को देखा है?" और तब तक उन्हें अपनी आशा के अनुरूप उत्तर नहीं मिला, जब तक कि उनका दक्षिणेश्वर में श्रीरामकृष्ण से भेंट नहीं हुई। इसके साथ ही उनके जीवन का एक नया अध्याय आरम्भ हुआ, परन्तु वह एक लम्बी कहानी है और सर्वविदित भी है।

उन्होंने बताया कि भयंकरी काली के इन पुजारी को स्वीकार करने में उनके मन को कितना संघर्ष करना पड़ा। उनके जैसे पाश्चात्य शिक्षा की एक उपज, परम्परा न माननेवाले अज्ञेयवादी के लिए इन पुरातनपन्थी मूर्तिपूजक के चरणों में बैठना पूर्णतः अकल्पनीय था! तथापि केवल इन सहज-सरल व्यक्ति में ही उन्हें वह जीवन्त आध्यात्मिकता देखने को मिली थी, जिसकी वे खोज कर रहे थे। यदि काली की पूजा करने से ऐसी पवित्रता, ऐसा सत्य, ऐसी ज्वलन्त आध्यात्मिकता आ सकती है, तो फिर व्यक्ति को उनके प्रति श्रद्धावनत होना ही पड़ेगा। व्यक्ति को अपनी पुरानी धारणाएँ पलटनी ही पड़ेंगी। उनकी बुद्धि ने तो समर्पण कर दिया, परन्तु उनके संस्कारों ने आसानी से हथियार नहीं डाला। श्रीरामकृष्ण को गुरु के रूप में स्वीकार करने के बाद भी उनके साथ काफी काल तक संघर्ष और तर्क-वितर्क चलता रहा। और अन्त में एक अनुभूति के द्वारा उन्होंने हार स्वीकार कर ली। और वह अनुभूति इतनी पवित्र थी कि उन्होंने कभी उसका वर्णन नहीं किया।

अपने गुरुदेव के प्रति उनकी भक्ति अपूर्व थी। प्रेम और निष्ठा जैसे शब्दों को नये अर्थ मिले। उनके भीतर उन्होंने ईश्वरत्व का जीवन्त रूप देखा और पाया कि उनके भावों के अनुसार उनका शरीर भी रूपान्तरित हो जाता है। उनके अशिक्षित होने के बावजूद स्वामीजी ने कहा था, "मैं जितने भी लोगों से मिला हूँ, उनमें वे ही सर्वाधिक मेधावी थे।" ये एक ऐसे व्यक्ति के शब्द हैं, जिनकी तीक्ष्ण बुद्धि ने असामान्य बौद्धिक उपलब्धिवान लोगों को भी विस्मय में डाल दिया था।

उनकी हिन्दू धर्म की पुनर्शिक्षा आरम्भ हुई। वे मूर्तिपूजा के विरोध में आन्दोलन करनेवालों में एक थे, परन्तु दक्षिणेश्वर की मूर्ति को अपनी जगदम्बा के रूप में पूजा करनेवाले काली के इन पुजारी में उन्हें अपने सभी परिचितों की अपेक्षा महानतर चरित्र – एक ओजस्वी व्यक्तित्व, प्रेम तथा दिव्यत्व का सजीव विग्रह देखने को मिला। उन्होंने सोचा, "यदि मूर्तिपूजा ऐसे चरित्र का व्यक्ति पैदा कर सकती है, तो मैं उसके समक्ष सिर झुकाता हूँ।" उन्होंने एक ऐसे व्यक्ति को देखा, जिन्होंने बारी-बारी से प्रत्येक धर्म की साधना की और पाया कि सभी एक ही लक्ष्य तक पहुँचाते हैं। उन्होंने संस्कृत के इस श्लोक का तात्पर्य सीखा – **रुचीनां वैचित्र्याद्-ऋजु-कुटिल-नाना-पथ-जुषां नृणामेको गम्यः त्वमसि पयसां अर्णव इव** – "सभी नदियाँ विभिन्न दिशाओं से आकर एक ही समुद्र में प्रवेश करती हैं" या "चीज एक ही है; चाहे हम उसे जल कहें, एकवा कहें, वाटर कहें, या पानी कहें।" सर्वश्रेष्ठ तत्त्व जो उन्होंने सीखा वह यह था कि धर्म केवल विश्वास का नहीं अपितु अनुभूति या उपलब्धि का विषय है; उन्होंने सीखा कि कुछ साधनाएँ के द्वारा से इसकी अनुभूति हो सकती है, सीखा कि इसी जगत् और इसी शरीर में रहते हुए व्यक्ति का दिव्य-रूपान्तरण हो सकता है और इस प्रकार वह मानव से अतिमानव में परिणत हो सकता है। श्रीरामकृष्ण में उन्हें एक ऐसे व्यक्ति दिखे, जिनके लिए 'ईश्वर ही एकमात्र सत्य वस्तु थे।'

अपने गुरुदेव के साथ बिताया जानेवाला समय समाप्ति को आ पहुँचा। शीघ्र ही वे ईश्वरोन्मत्त देवमानव अपने शिष्यों की एक छोटी टोली को शोकमग्न छोड़कर विदा हो गये। प्रारम्भ में उनकी अवस्था गोपालरहित गायों की सी हो गयी, पर धीरे-धीरे उनकी इस असहायता तथा शोक के स्थान पर यह बोध होने लगा कि गुरुदेव निश्चित रूप से विद्यमान हैं। इसके बाद से वे लोग उनकी पूजा के लिए एक स्थान अवश्य रखते थे, भले ही वह छोटा-सा ही क्यों न हो। उनमें से अधिकांश लोग चाहे जितनी भी दूर तक भ्रमण करने गये, परन्तु पूजा का दीप जलाये रखने हेतु कोई-न-कोई वहाँ अवश्य रहता था।

❖ (क्रमशः) ❖

स्वामी विवेकानन्द

(स्वामीजी ने १८९५ ई. की ग्रीष्म ऋतु में १५ जून से ७ अगस्त तक अमेरिका के सेंट लारेंस नदी के बीच में स्थित सहस्र-द्वीपोद्यान में आश्रम के समान एक निर्जन स्थान में अपने कुछ चुने हुए शिष्यों के साथ सात सप्ताह बिताये थे। उस काल के उनके उपदेश 'देववाणी' ग्रन्थ में निबद्ध हैं। जुलाई में एक दिन अपराह्न के समय स्वामीजी त्याग की महिमा तथा गैरिक-धारण में अन्तर्निहित आनन्द तथा स्वाधीनता के बारे में बोलते हुए सहसा उठकर अपने कमरे में चले गये। कुछ देर बाद अंग्रेजी में यह कविता लिखकर बाहर लाये और शिष्यों के समक्ष इसका पाठ किया। उनकी इस सुप्रसिद्ध कविता 'The Song of the Sannyasin' में मुख्य रूप से वेदान्त में कथित साधना तथा जीवन्मुक्ति की अवस्था का अपूर्व निरूपण है। सर्वप्रथम यह अंग्रेजी की 'ब्रह्मवादिन्' पत्रिका के सितम्बर १८९५ के अंक में प्रकाशित हुई। इसका हिन्दी रूपान्तर मूल अंग्रेजी से स्वामी विदेहात्मानन्द जी द्वारा किया गया है। इस नवीन अनुवाद की यह विशेषता है कि इसे सुर-ताल-लय के साथ गाया जा सकता है। इस कविता का एक अन्य गेय अनुवाद हम 'विवेक-ज्योति' के विगत जनवरी अंक में प्रकाशित कर चुके हैं। – सं.)

– १ –

छेड़ो संन्यासी, छेड़ो, अपनी वह तान निरन्तर,
गिरि-गुहा भेदकर निकली, जो गुँजा रही वन-प्रान्तर।
अति दूर, जहाँ ना पहुँचे, संसार-कलुष की माया,
ना उस प्रशान्ति पर पड़ती, यश-काम-लोभ की छाया।
बहता हो जहाँ सतत ही, निर्झर सत्-चित्-आनँद का,
ऊँचे सुर में नित गाओ, वह गीत उदात्त अभय का –
ॐ तत् सत् ॐ ॐ तत् सत् ॐ
ॐ तत् सत् ॐ ॐ तत् सत् ॐ

– २ –

तोड़ो जल्दी निज श्रृंखल, जकड़े रहती जो तुमको,
सोने की बनी हुई हो, या लोहे से निर्मित हो।
अनुराग-घृणा का अथवा, हो भले-बुरे का बन्धन,
है दास न मुक्त कभी भी, हँसता या करता क्रन्दन।
सोने का श्रृंखल भी क्या, बन्धन में कोई कम है!
इसलिए उसे भी त्यागो, दुहराओ जब तक दम है –
ॐ तत् सत् ॐ ॐ तत् सत् ॐ
ॐ तत् सत् ॐ ॐ तत् सत् ॐ

– ३ –

घनघोर तिमिर के भीतर, चमके प्रकाश रह-रहकर
जो ले जाती बहलाकर, दुख से दुखतर के भीतर।
जीने की अमिट पिपासा, खींचा करती तन-मन को,
जीवन से मरण, मरण से, पाने फिर नव जीवन को।
जो विजय स्वयं पर पाता, वह विश्वजयी हो जाता,
अतएव हार मत मानो, निज टेर सुनाओ, भ्राता –
ॐ तत् सत् ॐ ॐ तत् सत् ॐ
ॐ तत् सत् ॐ ॐ तत् सत् ॐ

– ४ –

"जैसा भी तुम बोओगे, वैसा काटोगे" – कहते,
नित भले-बुरे कर्मों के, फल भले-बुरे सब सहते।
कोई भी नहीं जगत् में, इस विधि से है बच सकता,
जो रूप-नाम वाला है, इस श्रृंखल में बँध रहता।
सच है, तो भी वह आत्मा, है परे नाम-रूपों से,
चिरमुक्त तुम्हीं संन्यासी, गाओ निर्भय अन्तर से –
ॐ तत् सत् ॐ ॐ तत् सत् ॐ
ॐ तत् सत् ॐ ॐ तत् सत् ॐ

– ५ –

वे सत्य न जानें, जो नित, देखें ये झूठे सपने,
पितु-मातु-पुत्र-पत्नी औ, सब मित्र जगत् में अपने।
निर्लिंग तुम्हारी आत्मा, फिर पिता-पुत्र ये किसके,
वह एक अखण्ड अगोचर, रिपु-मित्र न कोई उसके।
वह व्याप्त सभी में रहता, है पृथक् नहीं कुछ उससे,
'तत् त्वम् असि' हे संन्यासी, गाओ निर्भय अन्तर से –
ॐ तत् सत् ॐ ॐ तत् सत् ॐ
ॐ तत् सत् ॐ · ॐ तत् सत् ॐ

– ६ –

अद्वैत एक वह आत्मा, है नित्यमुक्त चिरज्ञाता,
वह नाम-रूप-कलुषों से, ना लिप्त कभी हो पाता॥
उसमें माया नित देखे, यह सारा स्वप्न जगत् का,
वह प्रकृति-रूपिणी आत्मा, साक्षी है केवल सबका॥
हे संन्यासी, प्रतिपल ही, समझो तुम तत्त्व वही हो,
गाओ निर्भय निज गायन, चाहे तुम जहाँ कहीं हो –
ॐ तत् सत् ॐ ॐ तत् सत् ॐ
ॐ तत् सत् ॐ ॐ तत् सत् ॐ

– ७ –

चिरमुक्ति परम दुर्लभ है, तुम कहाँ ढूँढ़ते, भाई,
जीवन में या मर कर भी, वह पड़ता नहीं दिखाई ।।
है व्यर्थ तुम्हारा शोधन, ग्रन्थों में या मन्दिर में,
जो सतत खींचती तुमको, वह डोर तुम्हारे कर में ।।
अतएव शोक तुम त्यागो, जीवन का सत्य समझ लो,
रस्सी छोड़ो संन्यासी, गाओ उन्मुक्त अभय हो –
ॐ तत् सत् ॐ ॐ तत् सत् ॐ
ॐ तत् सत् ॐ ॐ तत् सत् ॐ

– ८ –

बोलो, ''सब शान्त-सुखी हों, मुझसे भयमुक्त चराचर,
जो जीव गगनचारी हैं, या रेंग रहे धरती पर ।।
मैं ओतप्रोत हूँ सब में, मैं आत्म-रूप हूँ सबका,
मैं त्याग रहा हूँ जीवन, भू का औ सब लोकों का ।।
स्वर्गों-नरकों-पृथिवी का, आशाओं तथा भयों का,''
इस विधि काटो सब बन्धन, गाओ वह गान अभय का –
ॐ तत् सत् ॐ ॐ तत् सत् ॐ
ॐ तत् सत् ॐ ॐ तत् सत् ॐ

– ९ –

अब ध्यान न देना इस पर, यह देह रहे या जाये,
हो चुका कार्य है इसका, प्रारब्ध ही इसे चलाये ।।
पहनाये कोई माला, चाहे कोई लात जमाये,
यह तुच्छ देह का ढाँचा, निन्दा-स्तुति क्या पाये !!
है एक प्रशंसक-संशित, है एक हि निन्दक-निन्दित –
यह सोच शान्तकर मन को, गाओ वह गान अभय नित –
ॐ तत् सत् ॐ ॐ तत् सत् ॐ
ॐ तत् सत् ॐ ॐ तत् सत् ॐ

– १० –

यश-काम-लोभ के वश जो, है सत्य न उसमें आता,
नारी में पत्नी देखे, वह पूर्ण नहीं हो पाता ।।
जिसमें प्रवृत्ति संग्रह की, जो क्रोध किया करता है,
वह माया के द्वारों को, कर पार नहीं सकता है ।।
त्यागो इसको संन्यासी, गाओ फिर निर्भय अन्तर –
ॐ तत् सत् ॐ ॐ तत् सत् ॐ
ॐ तत् सत् ॐ ॐ तत् सत् ॐ

– ११ –

मत चाह करो निज गृह की, गृह तुम्हें बाँध ना पाये,
नभ छत हो घास बिछौना, आहार स्वयं जो आये ।।
हो स्वादयुक्त या फीका, परवाह करो मत भ्राता,
क्या अन्न-पान आत्मा को, दूषित कदापि कर पाता !!
तुम चलते रहो सतत ही, निज आत्म-प्रतिष्ठित होकर,
उन्मुक्त नदी के जैसे, गाओ फिर निर्भय अन्तर –
ॐ तत् सत् ॐ ॐ तत् सत् ॐ
ॐ तत् सत् ॐ ॐ तत् सत् ॐ

– १२ –

कुछ बिरले ज्ञानीजन ही, तव भाव सत्य समझेंगे,
बाकी सब लोग तुम्हारा, निन्दा-उपहास करेंगे ।।
तुम ध्यान न इस पर देना, विचरो उन्मुक्त जगत् में,
निज हाथ बढ़ाकर खींचो, जो डूबे घोर तमस में ।।
पीड़ा से मत घबराना, सुख के पीछे मत जाना,
दोनों के पार पहुँचकर, गाओ वह अभय तराना –
ॐ तत् सत् ॐ ॐ तत् सत् ॐ
ॐ तत् सत् ॐ ॐ तत् सत् ॐ

– १३ –

बीतें यूँ दिवस तुम्हारे, प्रारब्ध न जब तक क्षय हो,
फिर पुनर्जन्म ना होवे, आत्मा 'विदेह' चिर लय हो ।।
मैं-तुम-ईश्वर या मानव, है कुछ भी नहीं, कहीं भी,
'मैं' ही यह सभी बना था, सब आनँदरूपी 'मैं' ही ।।
तुम वही तत्त्व हो – जानो, गाओ फिर निर्भय होकर –
ॐ तत् सत् ॐ ॐ तत् सत् ॐ
ॐ तत् सत् ॐ ॐ तत् सत् ॐ

मानव-वाटिका के सुरभित पुष्प

डॉ. शरद् चन्द्र पेंढारकर

(अनेक वर्षों पूर्व विद्वान् लेखक ने 'विवेक-ज्योति' के लिए प्रेरक-प्रसंगों की एक शृंखला लिखी थी, जो बाद में पुस्तकाकार प्रकाशित होकर बड़ी लोकप्रिय हुई। अनेक वर्षों के अन्तराल के बाद उन्होंने अब उसी परम्परा में और भी प्रसंगों का लेखन प्रारम्भ किया है। – सं.)

(२५) निःस्पृहस्य तृणं जगत्

एक बार राजा विक्रमादित्य नगर की सड़क से जा रहे थे कि कुछ गड़ेरिये राजा का खेल खेलते दिखाई दिये। राजा बने हुए एक गड़ेरिये की न्यायप्रियता से विक्रमादित्य बड़े प्रभावित हुए और उन्होंने दूसरे दिन उन्हें बुलवाकर उसे मंत्री बना दिया। राजा ने उसके कार्य बताये और वह निष्ठापूर्वक अपना काम करता रहा। उसकी ईमानदारी ने राजा का मन जीत लिया, किन्तु अन्य मंत्रियों को उससे ईर्ष्या होने लगी कि कहीं वह राजा का अति विश्वासपात्र न बन जाए। मंत्रियों को जब पता चला कि मंत्री बने गड़रिये ने एक कमरा बन्द कर रखा हैं, जहाँ वह सुबह-शाम थोड़ी देर के लिए जाता है और बाद में उसमें पुन: ताला लगा देता है, तो उन्हें शंका हुई कि निश्चय ही उसने इस कमरे में सम्पत्ति एकत्र कर रखी होगी। उन्होंने राजा को इससे अवगत कराते हुए कहा कि ऐसा मंत्री आपको भी कलंकित कर सकता है।

राजा को मंत्रियों की शंका पर विश्वास नहीं हुआ, परन्तु जाँच करना भी आवश्यक था। एक दिन उन्होंने इस मंत्री को कमरा खोलने को कहा। कमरा खोलने पर उन्हें उसमें केवल वही वस्त्र दिखाई दिये, जिन्हें पहनकर वह पहले दिन महल में आया था। राजा ने जब उससे पूछा – "अब तुम मंत्री बन गये हो। फिर तुम्हें इन वस्त्रों का क्या जरूरत है? उसने उत्तर दिया – "महाराज, मैं जानता था कि मुझमें मंत्री बनने की कोई योग्यता नहीं हैं। आपकी कृपा-दृष्टि से ही मैं यह पद पा सका हूँ। मुझे इस बात का एहसास है कि यह पद अस्थायी है और मुझे कभी भी पूर्ववत् गड़ेरिया ही बनना होगा। वास्तव में मैं अपने पूर्व व्यवशाय में ही सन्तुष्ट था और मुझे ये पुराने वस्त्र ही प्रिय थे। शरीर पर धारण किये हुए नये वस्त्र मुझे काँटे के समान चुभते है। ये सदैव स्मरण कराते है कि में इन्हें पहनने का अधिकारी नहीं हूँ। मैं जानता था कि राजा की जिस दिन भी मुझ पर कृपा नहीं रहेगी, मुझे इन्हें त्यागना होगा, इसलिए अपने वस्त्रों को बन्द रखा हैं। प्रतिदिन मैं यह देखता हूँ कि वे सुराक्षित हैं या नहीं।" राजा ने सुना, तो बेहद लज्जित हुआ।

उसने दूसरे मंत्रियों से कहा – "देखा आप लोगों ने! मंत्री-पद पाकर भी यह कैसा सहज और निस्पृह है। ऐसा पद पाकर भी इसे उसका लोभ, मोह या मद नहीं हैं। ऐसा व्यक्ति मुझे कलंकित नहीं कर सकता, बल्कि मेरा गौरव ही बढ़ाएगा। तुम्हें उसके प्रति ईर्ष्या-द्वेष छोड़कर उसके गुणों का अनुकरण करना चाहिए।

(२६) स्वावलम्बन की महिमा अति न्यारी

एक बार बादशाह हारू-अल-रशीद वेष बदल कर एक गाँव से होकर जा रहे थे कि उन्होंने देखा – रास्ते में एक अत्यन्त बूढ़ा लकड़हारा सिर पर लकड़ियों का बोझ लिये हुए चला जा रहा था। बादशाह को उसकी दुर्बल काया और सिर पर लकड़ियों का भारी गट्ठर देख दया आ गई। उन्होंने पूछा – "बाबाजी, आप इतने बूढ़े हो गये हैं, तो भी इतनी मेहनत करते हैं। क्या आपको कष्ट नहीं होता?"

"कष्ट काहे का?" – लकड़हारे ने जवाब दिया, – "भगवान ने मुझे ये दो हाथ किसलिए दिये है? मेहनत करने के लिए ही तो दिये हैं। और अगर मेहनत न करूँ, तो मेरा गुजारा कैसे होगा? मैं ठहरा गरीब आदमी! मदद करने के लिये न मेरा कोई लड़का है, न कोई लड़की। अपना गुजारा मुझे ही तो करना होगा।"

बादशाह ने पूछा – "क्या तुम्हें मालूम नहीं कि तुम्हारा बादशाह गरीब बूढ़ों और बेसहारा लोगों को दान देकर उनकी सहयता करता है।"

"मालूम है, अच्छी तरह मालूम है" – बूढ़े ने बड़े गर्व के साथ उत्तर दिया – "परन्तु जब तक मेरे शरीर में जान है, मैं क्यों बादशाह की दयादृष्टि का मुहताज बनूँ। दूसरों पर निर्भर रहना मेरे उसूलों के खिलाफ है।"

वृद्ध का स्वाभिमान, स्वावलम्बन व श्रम-वृत्ति देखकर बादशाह नतमस्तक हो गया। वह बोला – "काश, इस राज्य में तुम्हारे जैसे और भी आत्मनिर्भर लोग होते! इससे बादशाह की आधी चिन्ता स्वयं ही मिट जाती और तब निश्चय ही हमारा राज्य दिन दूनी रात चौगुनी प्रगति करता।"

आत्माराम की आत्मकथा (१८)

स्वामी जपानन्द

(रामकृष्ण संघ के एक वरिष्ठ संन्यासी स्वामी जपानन्द जी (१८९८-१९७२) श्रीमाँ सारदादेवी के शिष्य थे। स्वामी ब्रह्मानन्द जी ने उन्हें संन्यास-दीक्षा प्रदान की थी। भक्तों के आन्तरिक अनुरोध पर उन्होंने बँगला भाषा में श्रीरामकृष्ण के कुछ शिष्यों तथा अपने अनुभवों के आधार पर कुछ प्रेरक तथा रोचक संस्मरण लिपिबद्ध किये थे। डॉ. डी. भट्टाचार्य कृत इसके हिन्दी अनुवाद की पाण्डुलिपि हमें श्रीरामकृष्ण कुटीर, बीकानेर के सौजन्य से प्राप्त हुई है। अनेक बहुमूल्य जानकारियों से युक्त होने के कारण हम इसका क्रमशः प्रकाशन कर रहे है। इसके पूर्व भी हम उनकी दो छोटी पुस्तकों – 'प्रभु परमेश्वर जब रक्षा करें' तथा 'मानवता की झाँकी' का धारावाहिक प्रकाशन कर चुके हैं – सं.)

सूरत के अनुभव

पास में जितने पैसे थे, उनसे सूरत तक के ट्रेन का भाड़ा हुआ। रास्ते में कहीं भी उतरे बिना सीधा सूरत पहुँचा। स्टेशन के पास एक शिव मन्दिर तथा धर्मशाला है। उसी में ठहरा। पैसा एक भी नहीं था। रात को उतरा था। भूख से त्रस्त होने के कारण सारी रात सो भी नहीं सका। बीच-बीच में वर्षा होने से नींद उचटती रही। सुबह दस बजे मन्दिर के पुजारी ने पूछा – "भिक्षा की क्या व्यवस्था है?"

मैंने कहा – "कुछ भी नहीं।"

पुजारी बोला – "क्यों, आप भी तो उन अन्य साधुओं के साथ भिक्षा करने जा सकते थे, दो-तीन दुकानें हैं, जो साधु-मुसाफिरों को आटा-दाल-चावल-घी आदि देते हैं और साथ में दो-चार पैसे भी देते हैं।"

मैंने कहा – "आटा-दाल लेकर करूँगा भी क्या! रसोई बनाने का इन्तजाम तो कुछ है ही नहीं! और इसके अलावा इस प्रकार की भिक्षा मैं नहीं कर सकता।"

पुजारी ने कहा – "तो सुबह क्यों नहीं बताया? रोटियाँ बना देता। अच्छा देखता हूँ, कुछ हो सकता है क्या!"

यह कहकर वे बाजार की ओर चले गये और लगभग घण्टे भर बाद रोटियाँ तथा सब्जी ले आये।

सूरत अच्छा लग रहा था, इसलिए उस दिन उस मन्दिर में ही रहा। संध्या की गाड़ी से अनेक यात्री आये। एक छोटी बच्ची और प्रायः अठारह-उन्नीस साल की एक तरुणी लड़की को लेकर एक ब्राह्मण दम्पति भी आये। अवधवासी थे। मैं जिस कमरे में ठहरा था, उसी में एक किनारे वे जम गये। सुबह अपने साथ भोजन का निमंत्रण दिया। ब्राह्मण सारे दिन शहर में यह कह-कहकर भिक्षा माँगते रहे – "तीर्थयात्री हैं, रास्ते में सब चोरी हो गया, बड़ी ही कठिनाई में हैं" आदि।

अगले दिन वे ब्राह्मण बड़ी लड़की को वहीं छोड़कर, पत्नी तथा छोटी बच्ची के साथ फिर भिक्षा माँगने गये। उस दिन भी मुझे भोजन करने को कहा था। बारह बज जाने पर भी उन लोगों के न लौटने पर लड़की बड़ी चिन्तित होकर मुझसे बोली – "पिताजी न जाने कहाँ चले गये। बड़ी देर हो गई है। आप जरा मेरे साथ आइये, चलकर देखें!"

राजी होकर उसके साथ चल दिया। देखा – लड़की वहाँ के प्रायः सभी रास्तों से परिचित है। वह आगे-आगे थी और मैं पीछे-पीछे चल रहा था। एक दुमंजले मकान के सामने पहुँचकर वह ठहर गयी, ठीक उसी समय उसके माता-पिता भी न जाने कहाँ से वहाँ आ पहुँचे, साथ में और भी दो-एक भिखारी थे। वे लोग सेठ से भिक्षा के लिए आग्रह करने लगे। मैं दूर एक बरामदे में बैठा सोच रहा था – "लड़की क्या झूठ बोलकर मुझे यहाँ लाई है! इस शहर के लिए वह नयी नहीं है। ये लोग भले नहीं प्रतीत होते।"

इतने में देखा – सेठजी कमरे के बाहर आये हैं और वह ब्राह्मण मेरी ओर उंगली दिखाकर कुछ कह रहा है। बात कुछ समझ में नहीं आयी, परन्तु मन में आशंका हुई कि शायद मुझे दिखाकर कुछ ले रहा है। सोचा – "गरीब है, यदि कुछ मिल जाये, तो अच्छा ही है और जब रोटी खिलाई है, तो उसके बदले कुछ लेने का अधिकारी भी हैं।"

रास्ता न जानने के कारण ही मुझे बाध्य होकर उन लोगों की प्रतीक्षा में बैठे रहना पड़ा। थोड़ी देर बाद सब मकान से निकल आये और लड़की से कुछ बातें करने के बाद दूसरी ओर चले गये। लड़की ने आकर कहा – "पिताजी थोड़ी देर से आयेंगे। आप चलिए, भिक्षा पा लीजिये। सब ठण्डा हो रहा है।" भोजन वह पहले ही बनाकर रख आई थी।

फिर धर्मशाले लौटा। लड़की ने मुझे भोजन दिया। पर अब उसके हाव-भाव सन्देहजनक लगने लगे। वह मुझे टेढ़ी नजरों से देख रही थी और वस्त्र आदि बहुत कम ही पहने थी। उसकी ऐसी चेष्टा देखकर मुझे भय हुआ कि उसके माता-पिता कहीं मुझे फँसाने की चेष्टा में तो नहीं हैं। भोजन करके मैं बाहर मन्दिर में जा बैठा और लड़की कमरे में ही रही। संध्या को ब्राह्मण-दम्पति लौट आये।

सोचा था – रात को बाहर ही सोऊँगा, मगर वर्षा होने के कारण कमरे में ही सोना पड़ा। रात के कितने बजे थे, पता नहीं, सहसा करवट बदलते समय हाथ बालों के एक गुच्छे पर लगा और पाँव किसी नग्न-मूर्ति से टकराये।

चौंककर उठ बैठा। कमरे में अँधेरा था। दियासलाई पास ही थी। जलाकर देखा – मेरे कम्बल के एक किनारे वह लड़की नग्न अवस्था में लेटी हुई थी। डर के मारे मेरा मुँह

सूख गया, छाती धड़कने लगी। सोचने लगा – "यह कैसा सर्वनाश है ! माँ, यह क्या ! लगता है यह कामातुर होकर संन्यासी का धर्मनाश करने की चेष्टा में है ! सर्वनाश ! रक्षा करो, माँ, रक्षा करो ! तुम्हारी शरणागत हूँ, शरणागत हूँ !"

धीरे-धीरे उठकर कमरे से बाहर निकला और मन्दिर के बरामदे में जाकर बैठ गया। पर भय दूर नहीं हुआ। सोचने लगा – ब्राह्मण ने शायद यह सोचकर लड़की को इधर ढकेल दिया है कि व्याभिचार का दावा करके कुछ पैसे ऐठेंगे। मूर्ख ! शायद नहीं जानता कि मैं एक अति दीन-हीन अकिंचन फकीर हूँ या फिर ऐसा भी हो सकता है कि यह उसकी अपनी लड़की न हो अथवा कोई अन्य उद्देश्य भी हो सकता है – इन्हीं सब चिन्ताओं से रात में दुबारा नींद नहीं आयी। लड़की को जगाकर अपना कम्बल ले लूँ – इतना साहस भी नहीं जुटा पाया। यदि सब जागकर हल्ला करने लगें, तो मेरी बदनामी ही होगी !

सुबह सबके उठने के बाद और स्नान आदि करने के पूर्व मैंने अपने कम्बल को लेकर पानी से धोया, क्योंकि वासना के अधीन होकर वह उस पर सोई थी। मगर लड़की अब मेरी तरफ देख नहीं पा रही थी और उस दिन उनके बहुत कहने पर भी मैंने उनकी भिक्षा ग्रहण नहीं की। पुजारी ने ही खिलाया।

सच्चिन राज्य में कुछ दिन

शाम को पैदल ही नासिक की ओर रवाना हुआ। ब्राह्मण दम्पत्ति ने बहुत कहा – "थोड़ा ठहर जाइये। हम लोग भी साथ ही घूमते-फिरते नासिक जायेंगे।" लेकिन मैं अब भला कहाँ ठहरने वाला था ! थोड़ी दूर जाकर देखा – सूरती टोपी पहने एक सज्जन चले आ रहे हैं। उनसे पूछा – "नासिक का पथ क्या यही है और वह कितनी दूर है?"

वे बोले – "नासिक काफी दूर है और रास्ता भी अच्छा नहीं है।" फिर दो-एक बात करने के बाद कहा – "जब किसी विशेष कार्यवश नहीं जा रहे हैं, तो चलिए कुछ दिन हमारे गाँव में आनन्द से बिताकर फिर नासिक जाइयेगा।"

उनका विशेष आग्रह देखकर राजी हुआ। उनके साथ ट्रेन में 'सच्चिन' गया। 'सच्चिन' में एक छोटा किला है, जिसके मालिक एक नवाब हैं। उन सज्जन का मकान गाँव के बाहर एक बड़े सुन्दर स्थान में था। बैठकखाने में घुसते ही सामने एक अपूर्व रूपवती देवी-मूर्ति देखकर स्तम्भित रह गया। लगा मानो स्वयं हिमगिरि-सुता देवी पार्वती भक्त पर अनुग्रह करने हेतु सचल विग्रह धारण करके प्रकट हुई हैं। अहा, चेहरे की बनावट कितनी सुन्दर थी ! नेत्र कितने सुन्दर थे ! वैसे ही जैसा कि बंगाल में दुर्गाजी की मूर्ति बनाते हैं। शरीर का रंग दुधिया रक्तिम था और सुकोमल आभायुक्त गुलाबी चरण-युगल !! ऐसी ही एक महिला को मैंने बाद में कश्मीर में भी देखा था, परन्तु उसके नेत्र इतने सुन्दर न थे। मैंने तो हाथ जोड़कर एक लम्बा प्रणाम कर डाला। वे बिना कुछ कहे भीतर चली गयीं। उन सज्जन ने परिचय देते हुए बताया कि वे उनकी बहन हैं, बाल-विधवा हैं, देवी की पूजा-पाठ आदि लेकर अपना प्राय: सारा समय बिताती हैं, किसी के घर नहीं जातीं, विशेष कार्य के बिना कमरे से बाहर नहीं निकलतीं और अति आवश्यक होने पर ही कुछ बोलती हैं। मन-ही-मन सोचा – "बड़ा भाग्यवान हूँ, जो ऐसी पवित्रात्मा का दर्शन पा सका।"

आठ दिन उनके घर रहा। वे ही सुबह तथा रात में कॉफी और दोपहर में भोजन दिया करती थीं। घर की बालिका थीं, अत: यह कार्य उन्हीं के जिम्मे था। परन्तु इतने नि:शब्द भाव से सारे कार्य करतीं कि विस्मित रह जाना पड़ता है। अपनी आदत के अनुसार चार, साढ़े चार बजे उठकर देखता – वे स्नान आदि करने के बाद घर के सामने और मन्दिर के देवता के समक्ष रंगोली बना रही हैं। उन्होंने अपने भाई गौड़जी (गुजरात में पुरोहित को गौड़जी कहते हैं) तथा मेरे लिये एक-एक लोटा पानी तथा दातुन रख दिया है। शौच आदि क्रिया करके लौटने पर देखता कि पहले से ही स्नान का जल तैयार रखा है और स्नान होते ही कॉफी तैयार मिलती। प्रतिदिन वे अचूक भाव से ये सारे कार्य करतीं, तथापि एक दिन भी वे दृष्टि में नहीं आयीं; वैसे भोजन आदि के समय उनका दर्शन मिल जाता। केवल एक दिन ही उन्हें कुछ बोलते सुना। उस दिन उनके भाई को सहसा खूब बुखार चढ़ आया था। उन्होंने पूछा – कैसे हैं? और – क्या खायेंगे? वैसे उन सज्जन की पत्नी भी थीं, परन्तु हाल ही में प्रसव होने के कारण सन्तान के साथ भीतर ही रहती थीं। उनके गले की आवाज कितनी मधुमय, कितनी स्नेहपूर्ण थी ! घर का वातावरण पवित्रता से परिपूर्ण था, मानो एक तरह का सुगन्ध व्याप्त था और बाहर भी कुछ दूर तक स्फूर्तिपूर्ण लगता था। क्या सचमुच इन ब्राह्मण के घर में स्वयं भगवती ही कन्या के रूप में, बहन के रूप में विराज रही हैं !

इस महिला का ऐसा रूप है, सुशीला है, परन्तु वह हीनाकर्षक नहीं है, मोहकारक नहीं है, कामोद्दीपक नहीं है – उनके शरीर या अन्य जो कोई उनके सम्पर्क में आता है, उसमें मानो प्रकृति का सामान्य नियम कार्यकर नहीं है। उनका महान् पवित्र स्वभाव मानो पुरुष की निम्न प्रवृत्तियों को दबा देता है, उसे मानो अपने पवित्र प्रभाव से उच्च आध्यात्मिकता के राज्य में उठा ले रहा है। कितना सुन्दर अनुभव था ! आज भी उसे भूल नहीं सकता। अब भी मानो अपने नेत्रों के समक्ष उस पवित्रता की प्रतिमूर्ति को देख रहा हूँ। उनका सरस्वती देवी – नाम इतने दिनों के बाद भी भूल नहीं सका हूँ। प्रभाव में और प्रत्यक्ष देखने में सरस्वती ही तो थीं !

तीव्र पवित्रता के समक्ष अपवित्र या स्थूल भाव नहीं उठते – यह बात इन देवी-बहन को देखकर विशेष रूप से अनुभव हुआ। 'सती' का जो प्रभाव होता है, उसकी यहीं पर अनुभूति हुई। 'सती' की कथा बहुत सुनी थी, परन्तु उन कथाओं में जो सत्य निहित है, इन देवी को देखकर ही उसका प्रत्यक्ष बोध हुआ। सती वह है, जिसका देह-मन तथा भाव पवित्र हो। पतिव्रता होने पर भी केवल देहगत एक-पति-व्रत सतीत्व का उच्च लक्षण नहीं है। मेरी धारणा है कि वास्तविक सती का दर्शन करने पर महान् पशु-भावापन्न पुरुष के मन से भी कुछ काल के लिये वह भाव लुप्त हो जाता है और पवित्र-संयत भाव का उदय हो जाता है। ऐसी देवी के चरणों में अन्य लोगों का सिर अवनत हो जाता है, श्रद्धा का उदय होता है और लगता है कि उनके पति के भीतर भी स्थूल गुणों की उतनी प्रबलता नहीं होती, भोग का मोह अधिक नहीं रहता, जैसा कि साधारण लोगों में दीख पड़ता है। ऐसे मामलों में खूब सम्भव है कि पति के मन में भी स्त्री के प्रति एक अपूर्व सम्मान का भाव हो। परन्तु एक-पति-व्रत यदि केवल दैहिक हो, तो उस नारी में दूसरों की स्थूल प्रवृत्तियों को रोकने की क्षमता नहीं रहती। जिस नारी में मानसिक तथा दैहिक रूप से यह व्रत पूर्णतया विद्यमान हो, वे निःसन्देह सती हैं। और यदि वे भगवद्-भाव अर्थात् आध्यात्मिक राज्य की अधीश्वरी हों, तब तो सोने में सुहागा – ऐसा संयोग अतुलनीय है।

सच्चिन में ही एक घटना और हुई थी। एक दिन सुबह सड़क पर टहलने निकला था। दोनों तरफ पाँत-के-पाँत बबूल के पेड़ लगे हुए थे। पेड़ों की संख्या ५०-६० रही होगी। देखा कि रास्ते में सर्वत्र ही काँटे बिखरे हुए हैं। और गाँव से जो लोग नंगे-पाँव आ-जा रहे हैं, उन्हें बड़ा कष्ट हो रहा है। मैंने खजूर के एक पत्ते को काटकर उसे झाड़ू जैसा बना लिया और रास्ते के बीच का भाग झाड़ते हुए चला जा रहा था। एक सज्जन दूसरी ओर से टहलते हुए आ रहे थे। उन्होंने ठहरकर पूछा – "क्या कर रहे हैं?" मैंने कहा – "रास्ते के काँटों को झाड़कर थोड़ा किनारे कर दे रहा हूँ। जिन लोगों के पास जूते नहीं हैं, उन्हें बड़ा कष्ट होता है। जिन लोगों ने रास्ते के किनारे बबूल के पेड़ लगाये हैं, उन्हें क्या इतना भी ध्यान नहीं था कि गरीब-दुखी लोगों को इससे कितना कष्ट होगा? छाये के लिये बबूल के पेड़ लगाना गलत है, आदि आदि।" वे बोले – "मेरे लिये भी इसी तरह का खजूर का एक पत्ता काट दीजिये।" मैंने वैसा ही किया और हम दोनों ने मिलकर जहाँ तक बबूल के पेड़ थे, झाड़ू लगाये। इसके बाद वे मुझे अपने धर ले गये और तब पता चला कि वे सच्चिन राज्य के दीवान हैं। ठीक तभी साहबजादे (नवाब के पुत्र) आ पहुँचे। उनसे परिचय हो जाने पर मैंने उन्हें सब कह सुनाया। मैंने कहा – "बीच-बीच में उस स्थान पर झाड़ू लगाने की व्यवस्था करना उचित होगा।" तत्काल आदेश हुआ कि मेहतरों के द्वारा नित्य झाड़ू लगवाया जाय।

आठ दिनों बाद वहाँ से नासिक के लिये रवाना हुआ। उन ब्राह्मण सज्जन तथा सच्चिन के दीवान ने 'कल्याण' स्टेशन तक का किराया दिया। कुछ दिन और रहने के लिए भी बड़ा आग्रह किया। वे गृहस्थ थे, परन्तु उनकी आर्थिक स्थिति अच्छी नहीं थी – दीवान से यह बात मालूम होने पर वहाँ और ठहरने की इच्छा नहीं हुई। उन भाई और उनकी बहन – उन देवी को नमस्कार करके विदा हुआ।

नासिक में गोदावरी-तट पर

नासिक की ओर चल पड़ा। जाते समय ट्रेन में एक सज्जन से परिचय हुआ। वे भी नासिक ही जा रहे थे। मेरा टिकट कल्याण तक का ही था, वहीं गाड़ी बदलनी पड़ती थी। सोचा था – वहाँ से पैदल ही चला जाऊँगा। कल्याण के टिकट-कलेक्टर इनके परिचित थे। इन्होंने उनको मेरे बारे में गार्ड से यह कह देने को कहा कि वे मुझे नासिक तक ले जायँ। उस गाड़ी के गार्ड एक एंग्लो-इंडियन थे। उन्होंने मुझे गाड़ी में बैठा लिया और नासिक में टिकट-कलेक्टर को कहकर बाहर लाकर मुझे उपकृत किया।

सुबह नासिक पहुँचकर पंचवटी गया। गोदावरी के पवित्र जल में स्नान करने के बाद सोच रहा था कि भोजन का क्या होगा? इतने में एक ब्राह्मण ने आकर मुझे भिक्षा के लिए बुलाया। ये एक धनाढ्य मारवाड़ी के अन्नक्षेत्र के मैनेजर थे। वहाँ के नियमानुसार दाल-सब्जी आदि सब बिना-नमक था। मैंने बड़ी तृप्ति से खाया। साथ में और भी चार लोग थे। कोई-कोई साथ में नमक बाँध लाये थे, उसे मिलाकर खाया और कोई-कोई अच्छा न लगने के कारण ठीक से खा ही नहीं सके। वे लोग पूछने लगे – "नमक क्यों नहीं दिया।"

फिर सब मन्दिर घूम-घूमकर देखने के बाद संध्या के पूर्व गोदावरी के तट पर स्थित एक शिव-मन्दिर के बरामदे में आश्रय लिया। वह स्थान पंचवटी बस्ती से थोड़ा बाहर और खूब निर्जन तथा एकान्त में था। सुर्पणखा की मूर्ति के पास होने के कारण लोग उधर ज्यादा आते-जाते न थे। दिन भर में दो-चार लोग स्नान आदि करने आ जाते।

अगले दिन स्नान आदि करके बैठा था। देखा – वही पूर्व-परिचित ब्राह्मण आ पहुँचे, बोले – "महाराज, चलिए भिक्षा करने।" उनके साथ गया। शायद तीसरा दिन था – मन्दिर के मालिक हाथ जोड़कर बैठे साधु-भोजन करवा रहे थे। मुझसे पूछा – "यहाँ जितने दिन भी रहें, यहीं भिक्षा करना।" मैं आहार आदि के बारे में निश्चिन्त हुआ। सोचा – भगवान की अपार दया है। परन्तु क्षेत्र का नियम पूछने पर

पता चला कि प्रतिदिन तीन नये साधुओं को बुलाकर और किसी आगन्तुक के आ जाने पर उसे दिया जाता है। मैंने पूछा – "मेरे ऊपर इतना अनुग्रह क्यों?" वे बोले – "केवल आप ही ऐसे हैं, जो भगवान के भोग के समान जो दिया जाता है, वही ग्रहण करते हैं, बाकी सभी लोग नमक-मिर्च आदि मिलाकर खाते हैं।" मैंने पूछा – "आप लोग कैसे खाते हैं?" वे बोले – "हम पापी हैं, नमक डालकर खाते हैं। आप ही बताइये क्या करें! एक आप ही जैसा दिया जाता है, खा लेते हैं, आदि।" जो लोग वर्ण में नीचे हैं, उनके लिये ब्राह्मण लोगों ने बिना-नमक भोजन की व्यवस्था दी है। उनका गाँव जयपुर के पास है। भगवान के लिए घर से ही अच्छा गेहू तथा घी आदि ले आते हैं। वहाँ श्रीकृष्ण का मन्दिर बनवाया है। उन्हें नित्य भोग दिया जाता है और साधु-सेवा भी होती है।

नासिक में तेरह-चौदह दिन रहा। प्रतिदिन उसी क्षेत्र के ब्राह्मण बुलाकर ले जाते। वे कुछ दिन गोदावरी के तट पर शिव-मन्दिर के बरामदे में बड़े आनन्द में बीते थे। परन्तु पेट की बीमारी से पीड़ित हुआ। अयाचित रूप से जो भी अन्न मिल जाता है, उसी को सन्तोषपूर्वक ग्रहण करने के अलावा संन्यासी के पास उपाय भी क्या है? वहाँ वैष्णवों के अड्डे ज्यादा थे और संन्यासियों से वे लोग एक तरह से घृणा ही करते थे, क्योंकि संन्यासी-लोग जाति-विचार नहीं मानते, सबके हाथ का भोजन खा लेते हैं, शिखा-सूत्र त्याग देते हैं, और आत्मश्राद्ध करके संन्यास लेते हैं।

शरीर अस्वस्थ होने के कारण सोचा कि किसी गाँव में जाकर रहूँगा, अत: गोदावरी के किनारे-किनारे चल पड़ा। रास्ता विकट होने के कारण, किनारा छोड़ राजपथ से होकर संध्या के समय नौ मील दूर एक गाँव में जा पहुँचा।

एक गाँव गोदावरी से दूर एक प्रचण्ड-प्रवाही नदी के किनारे स्थित था। स्नान आदि करके नदी की स्वच्छ रेत पर बैठा था, तभी पास के बाग से एक युवक ने आकर पूछा – "कहाँ से आ रहे हैं? भिक्षा हुई या नहीं?" भिक्षा नहीं हुई – सुनकर तत्काल अपने घर ले गया और बड़े यत्नपूर्वक खिलाया। उसके आग्रह से उसी के घर में तीन दिन ठहरा।

गाँव खूब छोटा था – पन्द्रह-सोलह घरों की बस्ती मात्र था। ये लोग जैन थे, पर रामदास के बड़े भक्त थे और नित्य 'दासबोध' का पाठ करते थे। वह युवक महाराष्ट्रियों के साथ कीर्तन भी करता था। जैन लोग संध्या के पूर्व ही भोजन आदि कर लेते हैं, रात को नहीं खाते। उधर के वैष्णव लोग भी ऐसा ही करते हैं। ये लोग बड़े कट्टर जैन थे और खूब जरूरत हुए बिना रात को रोशनी भी नहीं जलाते। अन्यथा अँधेरे में घूमते-फिरते रहते। मुझे भी उसी अन्धकार में रहना पड़ता था और बाहर जाने की आवश्यकता होने पर टटोल-टटोलकर दरवाजा खोलना पड़ता था। पहली रात को ही बत्ती न होने से मुझे असुविधा हो रही थी। युवक ने पूछा – "बत्ती जला दूँ क्या?" मैंने कहा – "अवश्य।" उसने बत्ती जला दी। रात को ठण्डा दूध लाकर पूछा – "गरम करके लाऊँ क्या?" मैंने कहा – "करके लाओ।"

अगले दिन सुबह नदी-तट पर एक ब्राह्मण से भेंट हुई। मुझे देखते ही पूछा – "ओह! तो आप ही उस साहूकार के घर में ठहरे हैं? अच्छा, उसने क्या स्वयं ही बत्ती जलाई थी?" मैंने उत्तर दिया – "नहीं, मुझसे पूछकर जलाई थी।" ब्राह्मण बोला – "बस, तब तो उसका सारा पाप आपको ही लगेगा।" फिर पूछा – "अच्छा, रात को क्या आपके लिए दूध भी लाया था?" मैंने कहा – "हाँ, लाया था।" ब्राह्मण – "वह गरम था या ठण्डा?" मैं – "मुझसे पूछकर गरम करके लाया था।" ब्राह्मण बोला – "बस, अब सारा पाप आपको ही लगेगा।" मैंने हँसते हुए अपना मुड़ा हुआ सिर दिखाते हुए कहा – "बिल्कुल सपाट है, पाप कैसे लगेगा?" फिर दोनों मिलकर खूब हँसे। जैन लोगों का विश्वास है कि किसी की अनुमति लेकर कुछ करने पर, उससे जो पाप होता है, वह उसके लिए अनुमति देनेवाले को ही होता है।

तीसरे दिन उसी गाँव के एक मराठी ब्राह्मण मुझे निमंत्रण देकर अपने घर ले गये। वहाँ उन्होंने नारायण-ज्ञान से फूल-चन्दन द्वारा मेरी पूजा की और आरती करके मुझे फलाहार कराया। "यह सब मुझे पसन्द नहीं है" – कहने पर उन्होंने कहा – "आपको पसन्द नहीं हो सकता है, लेकिन हमारे घर में निमंत्रण स्वीकार किया है, तो हमारी प्रथा के अनुसार ही सत्कार करने दीजिये।"

वहाँ पण्ढरपुर की महिमा खूब सुनी और साधु-सन्तों के लिये वहाँ भिक्षादि का विशेष प्रबन्ध है – सुनकर तुकाराम के 'पण्ढरपुर' जाने की इच्छा हुई। तीसरे दिन वहाँ के लिए रवाना हुआ। गाड़ी का किराया उन जैन भाई ने दिया था। भाग्य का लिखा भला कौन मिटा सकता है! कहाँ तो सोचा था कि शान्तिपूर्वक एक स्थान में बैठूँगा और इधर-उधर भ्रमण करने में ही समय बीत गया। ❖ (क्रमशः) ❖

माँ सारदा : हमारी चिर आश्रय

भगिनी निवेदिता

१७ मार्च १८९८, सेंट पैट्रिक का जन्मदिन। मेरे जीवन का 'day of days' एक स्मरणीय दिन। उस दिन हम लोगों (श्रीमती सारा ओली बुल, कुमारी जोसेफिन मैकलाउड और भगिनी निवेदिता – उस समय मिस मार्गरेट एलिजाबेथ नोबेल) ने पहली बार श्रीरामकृष्ण की सहधर्मिणी सारदा देवी का दर्शन किया (माँ केवल दो-चार दिन पहले जयरामवाटी से कोलकाता आकर बागबाजार के १०/२ बोसपाड़ा लेन के किराये के मकान में ठहरी हुई थीं)।

पचास से कम[1] आयु की हिन्दू विधवाओं के समान वे सफेद कपड़े पहनती हैं। पहनने का तरीका – वस्त्र को पहले स्कर्ट की तरह कमर में लपेट लिया जाता है, उसके बाद शरीर के ऊपरी हिस्से को लपेटते हुए सिर ढँका जाता है। यह बहुत कुछ ईसाई संन्यासिनियों की वेशभूषा के समान है। पुरुष लोग जब बात करने आते हैं, तो उन्हें पीछे हटकर खड़े रहना पड़ता है; वे सफेद घूँघट से अपना पूरा चेहरा ढँक कर उसे सामने लटका लेती हैं; स्वयं सीधे बातें नहीं करतीं; अधिक उम्र की किसी महिला को मृदु स्वर में प्राय: फुसफुसाते हुए कुछ कह देती हैं, फिर वह महिला जोर से उनकी बातों की पुनरावृत्ति करती हैं। इसीलिए लगता है आचार्यदेव (स्वामीजी) ने कभी उनका चेहरा नहीं देखा था।[2] साथ ही यह भी जान लेना होगा कि वे हमेशा एक छोटी चटाई बिछाकर फर्श पर बैठी रहती हैं।

(पाश्चात्य लोगों के लिए तथा तत्कालीन ब्राह्मण परिवार के पर्दाप्रथा के बारे में अपरिचित आज के इस देश के लोगों को भी) सारी बातें बुद्धिग्राह्य नहीं होंगी, पर उन्हें थोड़ा ठीक से समझ लेने पर देखने में आता है कि उनकी प्रत्युत्पन्न मति और व्यावहारिक बोध प्रखर है और हर क्षेत्र में इसका परिचय मिलता रहता है। श्रीरामकृष्ण कुछ करने से पहले हमेशा उनकी राय लिया करते थे। श्रीरामकृष्ण क शिष्यगण भी सर्वदा उनके निर्देश मानकर चलते हैं।

सचमुच ही असीम माधुर्य से परिपूर्ण हैं वे। उनका स्नेह कितना मर्मस्पर्शी है!

---

[1]. माँ की जन्मतिथि है २२ दिसम्बर, १८५३ ई., अत: निवेदिता से प्रथम भेंट के समय माँ की आयु लगभग ४५ वर्ष थी। – सं.

[2]. इसी प्रसंग में अन्यत्र निवेदिता ने और भी विस्तारपूर्वक लिखा है – "स्वामीजी, या फिर यहाँ तक कि स्वयं श्रीरामकृष्ण ने भी विवाह के बाद (विवाह के समय उनकी आयु मात्र पाँच वर्ष थी) उन्हें बिना घूँघट नही देखा था। अपनी पूजा करने के लिए पुरुषों के दरवाजे तक या कभी उसके भीतर आते ही तत्काल उनके चेहरे पर लम्बा सफेद घूँघट उतर आता है, यद्यपि कभी-कभी उसका कोना थोड़ा-सा उठा रहता था, ताकि उसकी आड़ से वे देख सकें। इस बात को लेकर मैं इतना विनोद करती कि पुरुषों के बाहर प्रतीक्षा करते समय वे पूरे समय हँसती रहतीं। परन्तु ज्योंही कोई सेवक या संन्यासी सीढ़ी से ऊपर आकर गुहार लगाते कि अमुक व्यक्ति माँ को दण्डवत प्रणाम करने आ रहे हैं – त्योंही क्षण भर में ही पूरे कमरे का वातावरण घनीभूत हो जाता, सारी बातें बन्द हो जातीं, हाथ के पंखे का डुलाना बन्द हो जाता, घूँघट चुपचाप चेहरे पर उतर आता, सारा शरीर चादर से ढँक जाता, कमरे के बीच में बैठने पर दरवाजे की ओर से मुख को हटाकर किनारे की ओर दृष्टि कर लेती – और यह सब कुछ बिल्कुल नि:शब्द हो जाता। इसके बाद आगन्तुक बाहर आकर खड़े हो जाते, चौखट पर सिर टेकते या फिर भीतर जाकर माँ के चरण स्पर्श करके कहते – वे अमुक-अमुक कार्य करने जा रहे है। सम्भव है कि वे उसी समय कोलकाता आये हैं, माँ के लिए कुछ प्रणामी लाये हैं, या फिर कोलकाता से बाहर जा रहे हैं, इसलिए माँ का आशीर्वाद चाहते हैं। उस समय श्रीमाँ सस्नेह बड़े मृदु स्वर मे पास खड़ी महिला के माध्यम से उस व्यक्ति का कुशल पूछती हैं, जिसे उच्च स्वर में उसे सुनाया जाता है। अन्त में वे पुन: प्रणाम करते हैं, श्रीमाँ हाथ जोड़ती हैं, जिससे समझा जाता है कि वे आशीर्वाद दे रही हैं। वे व्यक्ति चले जाते। इतनी देर बाद वातावरण हल्का हो जाता है। पहले की भाव-भंगिमा लौट आती है, बातें शुरू हो जाती हैं, पंखा हिलने लगता, घूँघट हट जाता है।

"अपने विलक्षण पति की उन्होने पूजा की, पर पति को चेहरा नहीं देखने दिया – क्या ऐसे किसी व्यक्ति की कल्पना भी की जा सकती है? चेहरा देखने देने पर कभी-कभी वे पति के मन या चिन्तन में आ जायेंगी – यह लोभ भी तो रह सकता था। नही, उनका आत्मत्याग अद्भुत है – यह भी वे नही चाहतीं। इसकी कल्पना मात्र से भी मैं सिहर उठती हूँ।" (निवेदिता लोकमाता – शंकरी प्रसाद बसु, आनन्द पॅब्लीसर्स, कोलकाता, खण्ड १, प्र. सं., १९६८, पृ. १८३-८४)

ठाकुर द्वारा माँ का मुख न देखने की बात निश्चय ही पूर्णत: सत्य नही है। तथापि दक्षिणेश्वर आने के बहुत दिनों बाद तक माँ ने ठाकुर के समक्ष घूँघट नहीं खोला था। बाद में काशी की एक महिला भक्त ने बलपूर्वक माँ का संकोच मिटा दिया था। (माँ की बातें, भाग १, प्र. सं., पृ. १३३ पाद टीका। इस प्रसंग में वर्तमान शृंखला के ही भगिनी देवमाता लिखित आगामी स्मृतिकथा भी द्रष्टव्य है – सं.)

तथापि वे एक छोटी बालिका के समान हँसमुख हैं। उस दिन जब मैंने जोर देकर कहा कि स्वामीजी को अभी यहाँ पर हम लोगों के बीच आना होगा, नहीं तो हम चली जायेंगी – इसे सुनकर वे कितना हँसी थीं ! जो संन्यासिनी यह समाचार लेकर आयी थीं कि स्वामीजी के साथ हमारी भेंट होने में समय लगेगा, उन्होंने जब देखा कि मैं सचमुच ही चले जाने के लिए जूता पहनने को उठ रही हूँ, तो वे बुरी तरह भड़क उठीं और जल्दी से स्वामीजी को बुलाने के लिए दौड़ीं – और उस समय माँ की उन्मुक्त हँसी का क्या ही अद्भुत रूप था ! और वे कितनी मधुर हैं ! मुझे कहती हैं, 'मेरी बिटिया' !

आचार-विचार के मामले में वे सर्वदा ही अत्यन्त परम्परा-वादी थीं, लेकिन जब पहली बार दो (निवेदिता को मिलाकर वस्तुतः तीन) विदेशी महिलाएँ – श्रीमती सारा ओली बुल तथा कुमारी जोसेफिन मैक्लाउड – उनके पास आयीं, तो उन्होंने सब कुछ दरकिनार कर दिया। उनके साथ उन्होंने भोजन भी किया ! पहुँचते ही हम लोगों को फल खाने को दिया गया; उन्हें भी दिया गया। और हम लोगों के साथ ही उनको भी वे फल ग्रहण करते देखकर सभी लोग विस्मित रह गये !! इस प्रकार हम लोग उनकी जाति में शामिल हो गयी (अर्थात् निवेदिता को लगा कि सारदादेवी द्वारा सप्रेम ग्रहण करने से वे लोग हिन्दू समाज की अंग बन गयीं।) और हम लोगों के भावी कार्य का रास्ता खुल गया, जो अन्य किसी भी उपाय से नहीं हो सकता था।[३]

उनकी यथार्थ महिमा का एक चुनिंदा प्रमाण यह है कि उनके कोलकाता में रहते समय उच्च वर्ण की १४-१५ हिन्दू महिलाएँ उन्हें हमेशा घेरे रहती हैं। यदि माँ अपनी अपूर्व विचक्षणता तथा प्रफुल्लता के द्वारा उनमें स्थायी शान्ति न बनाये रखतीं, तो वे आपस में द्वेष, झगड़ा आदि करके सबको परेशान कर डालतीं। ऐसा कहकर मैं इन महिलाओं के स्वभाव के बारे में कोई कटाक्ष नहीं कर रही हूँ। मैं नारी जाति के सामान्य स्वभाव के आधार पर ही यह बात कह रही हूँ ।

उनके सन्दर्भ में संन्यासियों की श्रद्धा वीरोचित है। उन्हें सर्वदा 'माँ' के रूप में सम्बोधित किया जाता है। उनका उल्लेख करते समय कहा जाता है – 'माता ठकुरानी', किसी भी संकट या समस्या के समय उन्हीं से पूछने की बात सर्वप्रथम मन में उठती है; उनकी सेवा में हमेशा दो-एक संन्यासी उपस्थित रहा करते हैं; उनकी किसी भी इच्छा को सर्वोच्च आदेश के समान माना जाता है। वस्तुतः यह एक दर्शनीय अपूर्व सम्पर्क है ! एक दिन एक संन्यासी ने मेरी ओर से उन्हें 'Magnificat' (ईसा-जननी मरियम का गीत) का बँगला अनुवाद पढ़कर सुनाया। वह दृश्य देखने के योग्य था। (मुझे प्रतीत हुआ था कि) वे अत्यन्त अनाडम्बर सहजतम परिधान में एक परम शक्तिमयी महीयसी नारी हैं।

१८९८ ई. का ग्रीष्मकाल मेरे स्मृतिपटल पर कुछ चित्रों के समान उभर रहा है। मई महीने के प्रारम्भ से अक्तूबर के अन्त तक हम लोगों ने कितने अवर्णनीय दृश्यों से होकर (कभी स्वामीजी के साथ, कभी उनके किसी गुरुभ्राता के साथ उत्तर-पश्चिमी तथा उत्तरी भारत का) भ्रमण किया था ! पहले से ही यह निश्चित था कि जितनी जल्दी हो सकेगा, सुविधानुसार मैं कोलकाता में एक बालिका-विद्यालय शुरू करूँगी। इसी परिकल्पना को रूपायित करने के लिए मैं नवम्बर (१८९८) के प्रारम्भ में अकेली ही कोलकाता लौट आयी।[४] (हावड़ा) स्टेशन से शहर के उत्तरी अंचल में बागबाजार का रास्ता पहचान कर पहुँचने में मुझे कोई असुविधा नहीं हुई। मेरा हठ था कि मैं वहाँ की महिलाओं के साथ ही रहूँगी। संयोगवश स्वामीजी उस समय कोलकाता के ही संघ के अड्डे – एक भक्त (बलराम बोस) के घर में ठहरे हुए थे। उन्हीं के माध्यम से मेरे निवास करने के विषय में बातचीत हुई। माँ अपनी संगिनियों के साथ पास ही (१०/२ बोसपाड़ा लेन में) निवास कर रही थीं। उसी दिन माँ ने उनके घर के एक कमरे में मुझे ठहराया।[५]

जीवन की किसी-किसी घटना की ओर मुड़कर देखने पर हम लोग अनुभव करते हैं कि इन मामलों में हमारा साहस ईश्वरीय विधान से हमारी अज्ञानता की ही सृष्टि है। अन्यथा समस्या का आवश्यक समाधान भला कैसे हो पाता ! तथापि यदि मैं उसी समय सचमुच समझ पाती कि मेरी उस हठ-धर्मिता के कारण, न केवल मेरी वे निरपराध आश्रयदात्री अपितु दूर गाँव में उनके सम्बन्धियों को भी किस तरह सामजिक विद्रोह का सामना करना पड़ेगा – तो उस समय

३. इस घटना से उल्लसित होकर स्वामी विवेकानन्द ने १८९८ ई. के मार्च में अपने गुरुभाई स्वामी रामकृष्णानन्द को लिखा था – "श्रीमाँ यहीं पर हैं। यूरोपीय और अमेरिकी महिलाएँ उसी दिन उनके दर्शन करने गयी थीं। सोचो तो सही, माँ ने उनके साथ मिलकर भोजन किया। क्या यह एक अद्भुत घटना नहीं है?" (विवेकानन्द साहित्य, खण्ड ६, प्रथम सं., १९६२, पृ. ३९९) – सं.

४. द्र. निवेदिता १ नवम्बर १८९८ को कोलकाता लौटी थीं। (बँगला ग्रन्थ भगिनी निवेदिता, प्रव्राजिका मुक्तिप्राणा, सं. १९६३, पृ. १२२)

५. श्रीमाँ उस समय १०/२ बोसपाड़ा लेन के जिस किराये के मकान में रहती थीं, उसकी दूसरी मंजिल मे वे तथा अन्य महिलाएँ रहती थी। पहली मंजिल के प्रवेशपथ के दोनों ओर दो कमरे थे। एक कमरे मे माँ के सेवक, रुग्ण स्वामी योगानन्द रहते थे और दूसरे कमरे मे निवेदिता को ठहराया गया था। तब भी घर की महिलाओं के साथ निवेदिता का विशेष परिचय नहीं हुआ था। इसके सिवा उन लोगों मे रूढ़िवादिता भी थी। फिर अलग कमरे मे नवागत निवेदिता स्वच्छन्दता का अनुभव करेंगी – यही सब सोचकर श्रीमाँ ने प्रारम्भ में उनके रहने के लिए अलग कमरे की व्यवस्था की थी। – सम्पादक

जो कुछ मैंने किया था, उसे कदापि नहीं करती।[६] जैसे भी होता, उस मामले में मैं अपनी वह जिद छोड़ देती। लेकिन उस समय मेरी धारणा थी कि जातिभेद व्यर्थ का व्यक्तिगत अन्धविश्वास मात्र है – उसका कारण यह भ्रान्त धारणा है कि सभी विदेशी लोग अनाचारी हैं – वास्तविक सत्य जानने पर वह दूर हो जाता है और उस अन्धविश्वास को त्यागने की मानसिकता उन भारतीय महिला में है – यह सोचकर मैं निश्चिन्त बोध से स्वच्छन्द रूप से उनकी अतिथि हो गयी।

सौभाग्य से इस मामले में स्वामीजी का प्रभाव सर्वजयी रहा। मैं (हिन्दू) समाज[७] में स्वीकृत हुई। आठ-दस दिनों के भीतर बहुत पास ही (माँ के घर के सामने की ओर १६ नं. बोसपाड़ा लेन में) एक मकान मिल गया। पर इसके बावजूद रोज दोपहर का समय मैं माँ के कमरे में ही बिताती। इसके बाद गर्मी आ जाने पर उनके स्पष्ट आदेश से मैं उनके घर ही विश्राम करने जाती। वहाँ अपेक्षाकृत अच्छी व्यवस्था थी। किसी अलग कमरे में नहीं, वहाँ मैं सबके साथ एक ही कमरे में सोती। सीधा-सादा कमरा ठण्डा था। लाल रंग की फर्श पर कतारों में चटाइयाँ तथा तकिये लगे हुए थे और मच्छरदानियाँ टँगी हुई थीं।

मैं एक अद्‌भुत परिवार में शामिल हुई। निचली मंजिल के मुख्य द्वार के बगलवाले कमरे में एक संन्यासी (स्वामी योगानन्द) रहते थे। यौवन के प्रारम्भ से ही कठोर तपस्या के फलस्वरूप जीवन के मध्य काल में वे उन दिनों क्षयरोग के कारण मृत्यु के द्वार पर आ पहुँचे थे। मैं बँगला सीखने उनके कमरे में जाती थी। पीछे के रसोईघर में उनका एक शिष्य तथा एक ब्राह्मण रसोइया काम करते थे। छत और बरामदे सहित पूरा ऊपरी मंजिल हम स्त्रियों के लिए था। समीप ही गंगा थी – ऊपरी मंजिल से गंगा-दर्शन होता था।

हमारी उस छोटी-सी गृहस्थी की स्वामिनी थीं श्रीमाँ। उनके बारे में कुछ भी कहने का प्रयास मेरी धृष्टता होगी। उनके जीवन का इतिहास सब लोगों को विदित है। पाँच वर्ष की आयु में विवाह हुआ, अठारह की आयु तक पति को

---

६. श्रीमाँ के जन्मस्थान जयरामवाटी गाँव में चरम सामाजिक कट्टरता के कारण ही, अपनी व्यक्तिगत परम उदारता के बावजूद अत्यन्त वेदना के साथ माँ को निवेदिता की जयरामवाटी जाने से मना करना पड़ा था। श्रीमाँ की माँ श्यामासुन्दरी देवी भी निवेदिता से अत्यन्त स्नेह करती थीं, लेकिन निवेदिता के जयरामवाटी जाने के आग्रह पर उन्हें घोर अनिच्छा के साथ अपनी असहमति जतानी पड़ी। निवेदिता ने श्यामासुन्दरी से कहा था – "नानी, तुम्हारे गाँव जाऊँगी, तुम्हारे रसोईघर में जाकर खाना पकाऊँगी।" इस पर श्यामासुन्दरी ने कहा था – "नहीं बेटी, ऐसी बात मत कहो। तुम हमारे चौके में जाओगी, तो गाँव के लोग हमारा बहिष्कार कर देंगे।" (श्रीमाँ सारदा देवी, स्वामी गम्भीरानन्द, सं. २००३, पृ. ३०२) अनिच्छा के बावजूद उन्होंने समाज के अनुशासन को जो स्वीकार किया था, वह केवल सामाजिक बहिष्कार की आशंका से नहीं, बल्कि उन्हें यह भी आशंका थी कि कहीं उनकी परम स्नेहपात्री निवेदिता को अपमान तथा लांछना न सहना पड़े। निवेदिता को जयरामबाटी ले जाने का साहस न कर पाने पर भी माँ ने गाँव की कट्टरवादिता को बारम्बार तोड़ा था। अमजद की घटना उसका उल्लेखनीय दृष्टान्त है। इसके सिवा और भी अनेक दृष्टान्त हैं। इन सबके लिए समाजपतियों के दबाव में उन्हें कई बार अर्थदण्ड या जुर्माना भी भरना पड़ा था। निवेदिता को जयरामबाटी ले जाने पर शायद सामाजिक कट्टरता की जो तरंग उठती, उससे माँ से कहीं अधिक निवेदिता को ही लांछना झेलनी पड़ती। लगता है इसीलिए माँ ने मना किया था। तो भी कोलकाता में वे कोई भी सौमझौता नहीं करती थीं। स्वामी असितानन्द ने एक घटना का उल्लेख किया है, "एक बार निवेदिता ने भोग बनाकर ठाकुर को देने के बाद उसका प्रसाद माँ को खाने को दिया। माँ ने उसे परम आनन्द के साथ ग्रहण किया। जिसके फलस्वरूप कट्टर महिलाओं में हलचल मच गई और उन लोगों ने माँ के इस कृत्य की कठोर निन्दा की। नाराज और तंग आकर माँ ने कहा – "निवेदिता मेरी बेटी है; उसे भोग पकाकर ठाकुर को निवेदित करने का अधिकार है, उसका दिया प्रसाद मैं बिना किसी दुविधा के परम आनन्द से लूँगी, इसमें यदि किसी को आपत्ति हो, तो वह अपने को ही लेकर रहे।" (निवेदिता लोकमाता, शंकरी प्रसाद बसु, खण्ड १, पृ. २०१) – सम्पादक

७. प्रव्राजिका मुक्तिप्राणा ने लिखा है – "निश्चय ही 'हिन्दू समाज' का अर्थ सम्पूर्ण हिन्दू समाज नहीं है। श्रीमाँ और स्वामीजी को केन्द्र बनाकर जो भक्तसमाज था, उसी में निवेदिता को स्थान मिला था। बाद में वे उदार तथा शिक्षित हिन्दुओं की भी श्रद्धाभाजन बनी थीं। भोजन आदि के बारे में उस समय का समाज, विशेषकर स्त्रियाँ निश्चय ही अत्यधिक कट्टर थीं और किसी भी विदेशी के स्पर्श से बचकर रहती थीं। पर निवेदिता अपने परिचितों में किसकी प्रिय नहीं थीं? बागबाजार मुहल्ले के प्रत्येक घर की छोटी से लेकर वृद्ध महिलाओं तक में से कौन उनके गुणों से मुग्ध नहीं थीं? यह बात सत्य है, उन लोगों ने स्वयं आगे बढ़कर निवेदिता का स्वागत नहीं किया। निवेदिता स्वयं उन्हें अपना मानकर उसके पास गयी थीं, उन लोगों ने भी उन्हें दूर नहीं रखा, हृदय में स्थान दिया है। निवेदिता उनकी परम अपनी थीं। आज आहार एवं स्पर्श के बारे में कोलकाता का हिन्दू समाज बहुत दूर अग्रसर हो गया है। आज शायद कोई विदेशी शिक्षित हिन्दू समाज या परिवार में एक साथ भोजन कर सकेगा, पर निवेदिता की तरह क्या वह हृदय के उस गहन प्रेम को पा सकेगा? वैसे जिस बाह्य आचार-अनुष्ठान के द्वारा हिन्दू समाज गठित हुआ है, उसके दैनन्दिन जीवन के साथ निवेदिता शायद एकाकार न हो सकीं, पर सामाजिक मनुष्यों के साथ वे एक हो गयी थीं।" (भगिनी निवेदिता, पृ. १२३-१२४)

वैसे मुहल्ले की हिन्दू नारियाँ निवेदिता से प्रेम करती थीं, तथापि रूढ़िवादी वृद्धाओं में से कोई-कोई दीर्घकाल तक अपनी संकीर्णता न छोड़ सकी। निवेदिता के प्रारम्भिक छात्रा पंकजिनी मुखोपाध्याय का घर ३३ नं. बोसपाडा लेन में था। पंकजिनी ने बाद में बताया था कि एक दिन उसकी माँ ने निवेदिता के बहुत आग्रह करने पर उन्हें बंगाली स्त्रियों के समान साड़ी पहना दिया। इसके लिए उन्होंने 'मेम साहब' का स्पर्श होने के कारण पंकजिनी की दादी और विधवा बुआ ने उसकी माँ को गंगास्नान के लिए बाध्य किया था। (द्रष्टव्य – बँगला मासिक उद्‌बोधन, वर्ष ९५, संख्या १०, पृ. ५५०) – सम्पादक

भूली रहीं। उसके बाद अपनी माँ की अनुमति लेकर गाँव से पैदल गंगातट पर स्थित दक्षिणेश्वर मन्दिर में पति के पास गयीं, पति को विवाह-बन्धन की बात याद आयी, परन्तु जो जीवन उन्होंने अपनाया था, उसी के आदर्श की बात पत्नी को सुनाया। उत्तर में पत्नी ने भी दृढ़तापूर्वक उनके उस जीवन-पथ के लिए सर्वांगीण मंगल-कामना की, उन्हें गुरु के रूप में स्वीकार किया और केवल शिष्य के समान ही उपदेश के लिए प्रार्थना की। ये सारी बातें सर्वविदित हैं।

इसके बाद से कई वर्ष तक वे एक परम अनुगत शिष्य की भाँति मन्दिर के उद्यान के एक ही कमरे में पति के पास रहीं। वे एकाधार में सहधर्मिणी, संन्यासिनी तथा पति के शिष्यों में सर्वश्रेष्ठ रहीं। शिक्षारम्भ के समय उनकी आयु कम थी। बाद में बातचीत के दौरान कभी-कभी वे शान्त-भाव से उस विषय में बतातीं कि उनके (पति) द्वारा प्रदत्त शिक्षा कितनी दिशाओं में फैली हुई थी। श्रीरामकृष्ण सारे कार्य ठीक-ठीक करना पसन्द करते थे; यहाँ तक शिक्षा देते कि दीये की सारी सामग्री को दिन में ही कहीं एक जगह जुटाकर रखना होगा। दुखी-भाव ठाकुर को सहन नहीं होता था। कठोर कृच्छ साधना करने के बावजूद वे जीवन के लावण्य तथा सौन्दर्य से प्रेम करते थे; शान्त और गम्भीर आचरण पसन्द करते थे। इसी समय की बात है – एक दिन पत्नी ने उत्फुल्ल शिशु की तरह गर्व के साथ पति के समक्ष एक टोकरी फल तथा शाक-सब्जी लाकर हाजिर किया। इस पर पति ने गम्भीर होकर कहा – "पर खर्च में इतनी बढ़ोत्तरी क्यों?" इस अप्रत्याशित आघात से तरुण पत्नी की सारी उत्फुल्लता क्षण भर में लुप्त हो गयी। "लेकिन यह सब मेरे लिए नहीं है" – कहते हुए वे अश्रुभरे नयनों के साथ चुपचाप चली गयीं। श्रीरामकृष्ण बेचैन हो गये। पास के शिष्यों को बुलाकर व्याकुलतापूर्वक बोले, "अरे, तुम लोगों में से कोई जाकर उसे बुला लाओ। उसे रोते देखकर मेरी ईश्वर-भक्ति भी उड़ जायेगी।"

श्रीमाँ ठाकुर को इतनी प्रिय थीं! तथापि माँ के चरित्र की एक प्रधान विशेषता यह है कि अपने आराध्य पतिदेव के बारे में बोलते समय, कभी उनके साथ उनके व्यक्तिगत सम्पर्क का आभास तक नहीं होता था। पति की हर बात को सफल करने के लिए वे भली या बुरी – सभी अवस्थाओं में सुमेरुवत् अटल रहती हैं। वे अपने पति का 'गुरुदेव' या 'ठाकुर' के रूप में उल्लेख करती हैं। उनके साथ रहनेवालों का कहना है कि उनकी बातों में कभी एक भी ऐसा शब्द नहीं रहता, जिससे पति के साथ उनके सम्पर्क का कोई स्वाधिकार प्रगट होता हो। जो उनका परिचय न जानता हो, उसके लिए उनकी बातों से किसी प्रकार भी यह अनुमान लगाना सम्भव नहीं होता कि श्रीरामकृष्ण पर उनका अन्य लोगों की अपेक्षा ज्यादा अधिकार है या उनके साथ उनका घनिष्ठतर सम्पर्क है! काफी काल पूर्व ही पत्नी का शिष्या में विलय हो चुका है, यद्यपि पत्नी की परम निष्ठा रह गयी है। तथापि उनके प्रति सबकी भक्ति असीम है और वह प्रति क्षण व्यक्त होता रहता है। दृष्टान्त-स्वरूप कहा जा सकता है, उसके साथ ट्रेन में यात्रा करते समय कोई उनके आसन के ऊपर के बर्थ पर जाने की बात सोच भी नहीं सकता। उनकी उपस्थिति ही सबके लिए एक परम पवित्र बात है।

मुझे सर्वदा ही लगता है कि वे भारतीय नारी के आदर्श के विषय में श्रीरामकृष्ण की चरम वाणी हैं। लेकिन **क्या वे प्राचीन आदर्श की अन्तिम प्रतिनिधि हैं, या फिर नये आदर्श की अग्रदूत?** उन्हें देखकर ही समझा जा सकता है कि प्रज्ञा तथा माधुर्य के समन्वय से किस प्रकार एक अत्यन्त सहज सरल नारी का जीवन भी जीया जा सकता है। पर उसी के साथ, मुझे उनकी अध्यात्म-महिमा के समान ही, उनके सम्भ्रान्त सौजन्य का सौन्दर्य तथा उनके विशाल मुक्त मन की महिमा भी अपूर्व प्रतीत हुई। चाहे जितनी भी नयी या जटिल समस्या उनके सामने रखी जाती है, मैंने कभी उन्हें उदार तथा महान् निर्णय व्यक्त करने से हिचकते नहीं देखा। उनका समग्र जीवन एक सतत प्रार्थना के समान है। ब्राह्मण-शासित समाज में उनका समग्र जीवन बीता है, तथापि प्रत्येक क्षेत्र में वे स्वयं को परिवेश या आसपास के वातारवण से ऊपर उठा लेती हैं। यदि कोई अपने अनुचित आचरण से उन्हें आघात पहुँचाता है – तब उनमें एक अद्भुत शान्त स्थिरता तथा प्रगाढ़ स्तब्धता छा जाती है – और यही उनकी प्रतिक्रिया का एकमात्र लक्षण होता है। यदि कोई अपने बाह्य सामाजिक समस्या या उत्पीड़न-कष्ट की बात बताता है, तो वे तत्क्षण अभ्रान्त अन्तर्दृष्टि से घटना के मर्म में जाकर सम्बद्ध व्यक्ति को समाधान का पथ दिखा देती हैं। और जब कभी कठोरता की जरूरत होती है? तब वे किसी प्रकार की बुद्धिहीन भावुकता से विचलित नहीं होतीं। जिस ब्रह्मचारी को (किसी गर्हित कर्म या आचरण के लिए) उन्होंने आगामी कई वर्षों के लिए माधुकरी भिक्षा करके खाने का दण्ड दिया है, उसे उनके आदेश पर तत्काल वह स्थान छोड़कर चले जाना होगा। यदि कोई अपने आचार-आचरण से श्लीलता और मर्यादा की सीमा लाँघे, तो कभी-कभी उनके समक्ष आने की अनुमति नहीं पा सकता। इसी प्रकार के एक दोषी व्यक्ति से एक बार श्रीरामकृष्ण ने कहा था – "देखते नहीं, तुमने उसके अन्दर की नारी-महिमा पर आघात किया है – सर्वनाश!"

परन्तु इसके बावजूद वे 'सुर-संगीत से नित्य पूर्ण' हैं। उनकी संगीत-प्रतिभा का आक्षरिक परिचय देते हुए उनके एक शिष्य ने कहा था – "और (वे) मधुरिमा, रंग तथा लीला में पूर्ण हैं।" और साथ ही उनकी पूजा का कक्ष परम स्निग्धता से परिपूर्ण रहता है। ❖ **(शेष अगले अंक में)** ❖

संन्यास का तात्पर्य

स्वामी सुबोधानन्द

(श्रीरामकृष्ण के एक संन्यासी शिष्य स्वामी सुबोधानन्द जी ने १८९७ ई. में मद्रास के 'यंग मेंस हिन्दू एसोसियेशन' – हिन्दू युवा समिति के तत्त्वावधान में एक व्याख्यान दिया था, जो सर्वप्रथम अंग्रेजी 'प्रबुद्ध भारत' के १८९८ ई. के नवम्बर अंक में प्रकाशित हुआ और फिर १९८३ के मार्च अंक में पुनर्मुद्रित हुआ। प्रस्तुत है उसी का एक अविकल हिन्दी अनुवाद। – सं.)

समस्त स्वार्थपूर्ण उद्देश्यों तथा कामनाओं के त्याग को संन्यास कहते हैं। संन्यास की व्याख्या करने के पूर्व मैं आप लोगों को ब्रह्मचर्य के बारे में बताऊँगा, क्योंकि उसे जीवन में उतारे बिना संन्यास सम्भव नहीं है। ब्रह्मचर्य-व्रत का पालन के लिये व्यक्ति को अपने भोजन, आदतों तथा विचारों में कठोर संयम का पालन करना पड़ता है। शास्त्रों ने इस अवस्था के लिए निर्धारित समस्त नियमों में यौन-प्रवृत्ति पर पूर्ण नियंत्रण करने पर सर्वाधिक बल दिया है। इसमें साधक के लिए ऐसा कुछ भी देखना या करना उचित नहीं है, जो प्रत्यक्ष या अन्य प्रकार से उसमें पाशविक वृत्ति जगा दे। इस प्रकार मनुष्य को अपने मन पर पूर्ण नियंत्रण लाने की शिक्षा दी जाती है। जो व्यक्ति अपने मन तथा इन्द्रियों का दास नहीं है, बल्कि जिसने उल्टे उन्हीं को अपना दास बना रखा है, वही सच्चा ब्रह्मचारी है। विश्व के सभी धर्म इस ब्रह्मचर्य तथा संन्यास की शिक्षा देते हैं और दोनों का लक्ष्य एक ही है – मन को सभी ऐन्द्रिक विषयों से निकालकर ईश्वर की ओर उन्मुख करना। ईश्वर में पहुँचकर मन दिव्य आनन्द की अनुभूति करता है।

साकार या निराकार ईश्वर की उपासना के द्वारा मन को ऊपर उठाने की यह क्रिया सम्पन्न की जा सकती है। साकार ईश्वर में निष्ठा रखनेवाले लोग उन्हें अपने परम प्रिय के रूप में जानते हैं और अपने जीवन के प्रत्येक क्षण में उनके सान्निध्य का आनन्द लेते हैं। वे लोग उनके साथ क्रीड़ा करते हैं और उनके साथ रहते तथा चलते-फिरते हैं। निराकार रूप में ईश्वर की उपासना करनेवाले लोग भी, सर्वव्यापी के रूप में उनकी अनुभूति करके परम आनन्द का आस्वादन करते हैं। अतीन्द्रिय होने के कारण इन दोनों प्रकार के भक्तों के आनन्द की तीव्रता समान होती है।

इन्द्रियों के प्रलोभनों से ऊपर उठे बिना व्यक्ति कदापि भक्त नहीं बन सकता। अत: भक्त का मन सांसारिक कामनाओं से बहुत दूर रहता है। वह अपने परिवार, मित्रों या सगे-सम्बन्धियों की ज्यादा परवाह नहीं करता; कोई भी कर्तव्य उसे इन लोगों के साथ आबद्ध नहीं रख सकता, क्योंकि जीवन के प्रत्येक क्षण में उसका मन पूर्णत: ईश्वर में समाहित रहता है। और जब कभी वह संसार की ओर देखता है, तो उसे व्यक्तियों का नहीं, अपितु देवताओं का संसार दिखाई देता है, क्योंकि सभी पुरुष, स्त्री, पशु, मकान, वृक्ष, आकाश, धरती – सब कुछ उसे दिव्यता से ओतप्रोत दिखाई देता है।

इस बात को स्पष्ट करने के लिए मैं आपको एक सन्त की कथा सुनाता हूँ, क्योंकि मैंने अब तक जो कुछ भी कहा है, ऐसे लोगों का जीवन उसका सजीव तथा ठोस निदर्शन होता है। अमूर्त सत्यों के ज्ञान की अपेक्षा ऐसे लोगों के जीवन का अध्ययन हमारे लिए कहीं अधिक लाभकारी हो सकता है, क्योंकि हमें अपने जीवन-यात्रा के दौरान जो मार्ग अपनाना चाहिए, उसे ये लोग हमें स्पष्ट रूप से दिखा देते हैं। **महाजनो येन गतः स पन्थाः** – महापुरुष जिससे होकर गये हैं, वही मार्ग कहलाता है। जैसा कि अंग्रेज कवि लांगफेलो कहते हैं, वे लोग 'समय-बालुका पर अपने पदचिह्न छोड़ जाते हैं।'

थककर यदि हुआ निराश कहीं,
शायद कोई चलता राही;
उन पदचिह्नों को देख वहाँ,
पा जाये अभिनव आशा ही ।।

नवद्वीप के महान् सन्त श्री चैतन्यदेव जब दक्षिण भारत की यात्रा कर रहे थे, उस समय उन्होंने एक सदाचारी तथा धनाढ्य मराठी ब्राह्मण का आतिथ्य स्वीकार किया था। उन ब्राह्मण का गोपाल भट्ट नाम का इकलौता पुत्र था, जिसे वे बड़ा ही प्यार करते थे। धर्मप्राण होने के कारण वे अपना अधिकांश समय अपने इष्ट के पूजन तथा उनकी स्तुति-गायन में ही बिताया करते थे। वे किसी भी अतिथि को अपने द्वार से लौटाते नहीं थे और साधु-संन्यासियों का स्वागत-सत्कार करने, उन्हें जी खोलकर भोजन कराने, उन्हें वस्त्र प्रदान करने और आत्मोन्नति के हेतु उनके उपदेश सुनने में ही उनके जीवन का प्रमुख आनन्द निहित था। परन्तु उनके पुत्र गोपाल का एक उच्चतर लक्ष्य था। वह केवल साधु-संन्यासियों के व्याख्यान सुनकर या देवप्रतिमा की पूजा करके ही सन्तुष्ट नहीं था, वह ईश्वर को साक्षात् देखना चाहता था। इसी उद्देश्य के कारण उसके मन में काफी काल से यह इच्छा थी कि वह किसी निर्जन एकान्त स्थान में जाकर अपना पूरा समय अपने प्रियतम प्रभु का स्मरण-मनन करने में बिताये। इसलिए जब चैतन्यदेव उसके पिता के अतिथि हुए, तो उनकी परम भक्ति और उनके दोनों नेत्रों से सतत ईश्वरप्रेम के

अश्रु प्रवाहित होते देखकर वह विस्मय-विमुग्ध हो उठा। उसके मन में भी उन्हीं के समान होने – एकाकी रहने और साधु-संन्यासियों के समान भिक्षाटन करते हुए विविध स्थानों में भ्रमण करने की इच्छा हुई। बालक में अच्छे संस्कार, उसकी पवित्रता, सरलता तथा भक्ति देखकर चैतन्यदेव का मन भी उसकी ओर इतनां आकृष्ट हुआ कि उसके पिता के समक्ष उसकी प्रशंसा करते हुए उन्होंने कहा, "तुम्हारा यह पुत्र आगे चलकर एक महान् भक्त बनेगा।"

चैतन्यदेव के विदा लेते समय बालक का हृदय भी उनके पीछे-पीछे चला गया, परन्तु उसकी समझ में नहीं आ रहा था कि वह अपनी इस इच्छा का रूपायन कैसे करे, क्योंकि उसके पिता का उसके प्रति लगाव इसमें आड़े आ रहा था। तो भी एक दिन उसने अपने पिता के समक्ष अपनी यह इच्छा व्यक्त कर दी। पिता को आशंका हुई कि कहीं वह बिना बताये उसे छोड़कर कहीं दूर न चला जाये और अत: उसने पुत्र के अनजाने ही उस पर निगाह रखना शुरू कर दिया।

परन्तु जहाँ सच्ची चाह होती है, वहाँ कोई-न-कोई राह भी निकल ही आती है। एक दिन आधी रात के समय, जब सभी लोग, यहाँ तक कि उस पर कड़ी निगाह रखने के लिए नियुक्त चौकीदार लोग भी गहरी निद्रा में सो रहे थे, गोपाल अपने घर से निकला और मुख्य मार्ग को छोड़ वनपथ से होकर चल पड़ा। शरीर पर पहने हुए वस्त्र के सिवा उसके पास और कुछ भी न था। दिन भर चलते रहने के बाद वह भूख से अभिभूत हो गया और बालक होने के कारण रोने तथा ईश्वर से प्रार्थना करने लगा। थोड़ी देर बाद उसने देखा कि एक वृद्ध व्यक्ति उसी की ओर चले आ रहे हैं। वृद्ध द्वारा उसके रोने का कारण पूछे जाने पर बालक ने बताया कि उसे भूख लगी है। वृद्ध ने उसे कुछ खाने को दिया, उसे पुचकारा और कहा कि उन्हें भी उसी वनमार्ग से होकर आगे जाना है। वृद्ध ने बताया कि वह वन काफी दूर तक फैला है, जिसे पार करने में कई दिन लगेंगे और वे भी उसके साथ ही जायेंगे। बालक ने इसके लिए उनका बड़ा आभार माना और यह जानकर भी निश्चिन्त हुआ कि उसे जब कभी भूख लगेगी, तो उसे उन वृद्ध से कुछ अच्छी खाने की चीजें और मधुर बातें भी सुनने को मिलेंगी।

एक दिन गोपाल ने उन वृद्ध से पूछा कि वे कौन हैं और क्यों उसकी इतनी देखभाल कर रहे हैं ! वृद्ध ने तत्काल यह रहस्य प्रकट कर दिया कि वे वही हैं, जिनकी खोज वह करता रहा है। इस पर बालक बोला, "मैं जिन्हें ढूँढ़ रहा हूँ, वे आपके जैसे वृद्ध नहीं, बल्कि युवा हैं और उनके हाथ में बाँसुरी तथा सिर पर मोर का पंख है। मैं भला कैसे विश्वास करूँ कि आप वे – मेरे अपने परमप्रिय श्रीकृष्ण ही हैं?"

उसे विस्मय के सागर में डुबाते हुए वह व्यक्ति तत्काल विश्व के सुन्दरतम युवक में परिणत हो गया और साक्षात् श्रीकृष्ण के रूप में उसके समक्ष खड़ा-खड़ा मुस्कुराने लगा। उस समय गोपाल के हृदय में उठ रहीं आनन्द की उत्ताल तरंगों का भला कौन वर्णन कर सकता है? कुछ समय बाद जब उसकी यह अवस्था प्रशमित हुई, तब श्रीकृष्ण ने उसे जंगल से निकलने का एक अत्यन्त सहज मार्ग दिखा दिया और स्वयं वृन्दावन में पुन: मिलने का वचन देकर अन्तर्धान हो गये। इससे बालक का मन प्रेम तथा आनन्द से परिपूर्ण हो उठा। कहना न होगा कि कुछ महीनों बाद गोपाल वृन्दावन पहुँचा और वहीं उसने अपना पूरा जीवन अपने परमप्रिय श्रीकृष्ण के दिव्य सान्निध्य में बिता दिया।

गोपाल भट्ट के जीवन में हम स्पष्ट रूप से देख पाते हैं कि स्वयं में दृढ़ विश्वास और अदम्य निष्ठा होने के कारण ही वह देवमानव बना। सच्चा मनुष्य बनने के लिए दो चीजों की आवश्यकता है – सरल विश्वास तथा दृढ़ इच्छा। हमारे गुरुदेव (श्रीरामकृष्ण) कहा करते थे कि यदि हमें सूई के छेद में धागा पिरोना हो, तो पहले उसके सभी बिखरे हुए रोओं को ऐंठकर नुकीला बनाना पड़ेगा, तभी उसे सूई के छेद में डाला जा सकेगा, अन्यथा यदि उसके रोएँ सभी दिशाओं में बिखरे हुए हों, तो वे धागे को सूई के छेद में जाने से रोकेंगे। इसी प्रकार यदि हमें अपने मन को ईश्वर की ओर उठाना हो, तो हमें उसे सभी बाह्य विषयों से खींचकर एक विषय पर एकाग्र करना होगा।

परन्तु जो मन पत्नी तथा पुत्रों में बँटा हुआ है, नाम-यश की प्राप्ति में प्रयासरत है और हर प्रकार के इन्द्रियजन्य सुखों की खोज में लगा हुआ है, उस बिखरे हुए मन को एकाग्र कैसे किया जाय? यह ईश्वर या अपने गुरु में विश्वास के द्वारा किया जा सकता है।

गोपाल भट्ट को श्रीकृष्ण में परम विश्वास था और इस कारण उनके लिए अपना समूचा प्रेम श्री वृन्दावन के उस परमप्रिय, दयालु और सुन्दर बाल-गोपाल को दे पाना सम्भव हो सका था। भूख और कष्ट भी उनके मन को उनके प्रियतम के चरणों से विचलित नहीं कर सके। परन्तु ऐसा विश्वास आम तौर पर देखने में नहीं आता। अतएव अधिकांश लोगों के लिए अपने गुरु में विश्वास आवश्यक है। यदि कोई व्यक्ति अपने पूरे हृदय के साथ अपने गुरु से प्रेम करता है, उनके आदेशों का पालन करता है, तो उसका मन गुरु में लगे होमे के कारण स्वाभाविक रूप से ही अन्य आकर्षणों से विमुख होकर एकाग्र हो जायेगा। अपने गुरु के प्रति यह श्रद्धा में धीरे-धीरे ही सबलता आती है, अत: इसके अंकुरित होते ही इसे लोगों के स्थूल दोषदृष्टि के समक्ष प्रकट नहीं

करना चाहिये; क्योंकि जब तक पौधा यथेष्ट रूप से बड़ा नहीं हो जाता, तब तक उसे जानवरों द्वारा नष्ट होने से बचाने के लिये बाड़ से घेरकर रखना पड़ता है। जब तालाब में थोड़ा-सा ही पानी हो, तो हमें उसे हिलाना-डुलाना नहीं चाहिये, अन्यथा वह मटमैला होकर पीने के अयोग्य हो जायेगा और हमें पहले से भी अधिक प्यास के साथ घर लौटना होगा।

हमारे गुरुदेव ने हमें ऐसा ही उपदेश दिया। इसलिये आप सबसे मेरी आन्तरिक प्रार्थना है कि आप कभी बाहर से किसी को अपनी श्रद्धा पर प्रश्न उठाने का मौका न दें और न स्वयं ही उसे लोगों की स्थूल दोषदृष्टि के सामने प्रदर्शित करें। श्रद्धा व्यक्ति की अपनी चीज है, उस पर शंका उठाने का किसी को भी अधिकार नहीं है। विश्व के प्रत्येक व्यक्ति की किसी-न-किसी पर श्रद्धा होती है और वह दूसरों की दृष्टि में मिथ्या प्रतीत हो सकती है।

मैं आप लोगों को विश्वास दिलाता हूँ कि किसी भी सच्ची श्रद्धा के फलस्वरूप केवल वास्तविक कल्याण ही हो सकता है। इसलिये मैं फिर दुहराता हूँ कि आप अपनी या किसी की भी श्रद्धा को असहानुभूतिपूर्ण तथा असम्मानयुक्त प्रश्नों का विषय न बनने दें, क्योंकि संशय ही मृत्यु है। कहावत है कि श्रीकृष्ण श्रद्धा के अति निकट हैं। शंकावाद उनसे अत्यन्त दूर है। अपने मन को विनय के सद्गुण से अलंकृत कर लें, क्योंकि विनम्र और विनयी हुए बिना आप कुछ भी नहीं सीख सकते। हमारे गुरुदेव कहते थे कि जैसे वर्षा का जल ऊँची जमीन पर न ठहरकर हमेशा नीची जमीन ही ढूँढ़ता है, वैसे ही अहंकार से फूले हुए लोगों में कोई भी श्रद्धा नहीं टिकती, क्योंकि श्रद्धा सर्वदा ही विनयी तथा विनम्र हृदय की ही खोज में रहती है। विभिन्न व्यक्तियों और सम्प्रदायों के बीच तब तक संघर्ष होते रहेंगे, जब तक कि वे सर्वोच्च सत्य का साक्षात्कार करने के प्रयास में नहीं लग जाते। जब सत्य चमक उठता है, तब अज्ञानरूपी अन्धकार और पृथ्वी को नरमेध तथा रक्तपात से आच्छन्न कर देनेवाले संकीर्णता एवं कट्टरतारूपी उसके सहयोगी – सब लुप्त हो जाते हैं। अज्ञान के अन्धकार में भटकने वाले लोग ही कहा करते हैं कि 'तुम्हारा ईश्वर मिथ्या और मेरा ईश्वर ही सच्चा है।' एक बार ब्राह्मसमाज के आचार्य श्रीयुत् केशवचन्द्र सेन ने हमारे गुरुदेव (श्रीरामकृष्ण) से पूछा, "जब ईश्वर एक ही है, तो फिर इतने सारे सम्प्रदाय आपस में लड़ते क्यों रहते हैं?" इस पर ठाकुर ने उत्तर दिया, "देखो, लोग जमीन, सम्पत्ति और संसार की अन्य चीजों को लेकर लड़ते रहते हैं, कहते हैं, 'यह जमीन मेरी है और वह तेरी है।' इस प्रकार वे अपनी-अपनी जमीन पर चिह्न लगाकर अपनी सम्पत्ति को तरह-तरह से अलग करते रहते हैं, परन्तु धरती के ऊपर की खुली जगह को लेकर कोई भी नहीं झगड़ता, क्योंकि वह किसी की भी सम्पत्ति नहीं है और उस पर लाइन खींचकर बँटवारा करना सम्भव भी नहीं है। इसी प्रकार मन जब सभी सांसारिक विषयों से ऊपर उठ जाता है, तब उसके लिये लड़ने का कोई कारण नहीं रह जाता, क्योंकि तब वह एक ऐसे बिन्दु पर पहुँच जाता है, जो सभी का साझा लक्ष्य है।"

ईश्वर की अनुभूति कर लेने पर व्यक्ति झगड़ नहीं सकता, परन्तु जब तक वह उस स्थिति में पहुँच नहीं जाता अर्थात् जब तक वह ईश्वर से दूर है, तब तक वह झगड़ने में लगा रहता है। लड़ाई-झगड़े के अनेक अवसर आयेंगे, पर उनमें पड़े बिना ही उस ऊँचाई तक पहुँचने का प्रयास कीजिये और अपने अन्दर व बाहर स्थित ईश्वर में निहित सार्वभौमिक समन्वय तथा सहमति की अनुभूति करके अन्तत: इन सभी विवादों के परे चले जाइये। आइये, हम भी वह मधुर भजन सुनें, जिसे पूर्वकाल के महान् बंगाली भक्त रामप्रसाद सबके समक्ष गाते रहे हैं। इन महान् भक्त ने कभी बैठकर भजनों की रचना नहीं की, बल्कि जब कभी उनमें भाव आता तो दिव्य प्रेम से ओतप्रोत परम मधुर भजनों का उनमें स्वत: ही स्फुरण होने लगता। बहुत-से लोगों का विश्वास है कि स्वयं जगदम्बा ने ही अपने पुत्र रामप्रसाद के हृदय-सिंहासन पर बैठकर उन्हें ये कालजयी भजन गाने की प्रेरणा दी। वे कहते हैं –

"रे मन, तू जैसी भी इच्छा हो, माँ-काली का भजन कर और अपने गुरुदेव द्वारा दिया गया महामंत्र दिन-रात जप करता रह। लेटते समय तू समझना कि माँ को प्रणाम कर रहा हूँ, निद्रा लेते समय सोचना कि माँ का ध्यान कर रहा हूँ और भोजन करते समय जानना कि मैं माँ-काली को ही आहुतियाँ दे रहा हूँ। कानों में जो कुछ भी सुनाई देता है, वह सब तो माँ का ही मंत्र है, क्योंकि पचासों वर्णों में वे ही व्याप्त हैं और हर वर्ण उन्हीं का नाम है। रामप्रसाद आनन्दपूर्वक कहते हैं कि माँ ही प्रत्येक जीव में विराजमान हैं, अत: नगर में भ्रमण करते समय सोचना कि मैं जगदम्बा की ही प्रदक्षिणा कर रहा हूँ।" यहीं पर भजन समाप्त होता है। क्या ऐसा व्यक्ति भी अपने मनुष्य भाइयों के साथ झगड़ा कर सकता है? ऐसा व्यक्ति ही सच्चा संन्यासी है।

एक बार एक गन्दा-सन्दा दिखनेवाला आदमी कोलकाता के पास दक्षिणेश्वर में स्थित रानी रासमणि के उद्यान-परिसर में प्रविष्ट हुआ। इस सुविस्तृत उद्यान में माँ-काली का एक बड़ा ही सुन्दर विशाल मन्दिर है। मन्दिर के कर्मचारियों ने उस गन्दे आदमी को अन्दर आते और परिसर को गन्दा करते देखा, तो वे उसे मारपीट कर बाहर निकालने के लिए एकत्र होने लगे। परन्तु उसी उद्यान में निवास करनेवाले हमारे गुरुदेव ने उस व्यक्ति को देखते ही समझ लिया कि वे एक महान् योगी और सच्चे संन्यासी हैं, अत: उन्होंने उन लोगों से कहा कि इनके साथ कोई बुरा बर्ताव न किया जाय।

श्रीरामकृष्ण की बात सुनकर वे लोग शान्त तो हो गये, परन्तु उसकी शारीरिक अस्वच्छता के कारण उसे मन्दिर में नहीं जाने दिया।

थोड़ी देर बाद वह अस्वच्छ साधु मन्दिर के सामने खड़ा होकर इतने मधुर स्वर में जगदम्बा की स्तुति गाने लगा कि उन्हीं लोगों की आँखों में आँसू आ गये, जो कुछ काल पूर्व उसे पीटने जा रहे थे। इसके बाद एक कुत्ते को वहाँ फेंका हुआ जूठन खाते हुए देखकर, वह वहाँ गया और कुत्ते को सहलाते हुए उससे बोला, "मित्र, अकेले-अकेले ही क्यों खा रहे हो? मेरे साथ बाँटकर नहीं खाओगे?" और वह कुत्ते के साथ ही खाने लगा।

जब वह उद्यान के बाहर जा रहा था, तब एक सज्जन उसके पास गये और हाथ जोड़कर बोले, "महाराज, कृपया मुझे सच्चे ज्ञान का रहस्य बताइये।" इस पर साधु ने उत्तर दिया, "बेटा, जब तुम्हें गंगाजी के पवित्र जल और नाबदान के गन्दे पानी में कोई भेद नहीं दिखाई देगा, तभी तुम समझोगे कि सच्चा ज्ञान क्या है।"

सच्चा संन्यासी एक सन्त और एक पापी को एक ही दृष्टि से देखता है, क्योंकि उसे दोनों में विभिन्न वेश धारण किये एक ही ईश्वर दिखाई देते हैं। ऐसे व्यक्ति को ही पूर्ण मानव कहते हैं। भगवान शंकराचार्य ने एक पूर्ण व्यक्ति के लक्षणों का इन शब्दों में वर्णन किया है –

दिगम्बरो वाऽपि च साम्बरो वा,
त्वगम्बरो वाऽपि दिगम्बरस्थः।
उन्मत्तवद्वाऽपि च बालवद्वा,
पिशाचवद्वाऽपि चरत्यवन्याम्॥

(विवेक-चूडामणि, ५४०)

– पूर्ण व्यक्ति कभी वस्त्र पहने रहता है, तो कभी दिगम्बर ही रहता है, कभी वह अपने तन को वृक्ष की छाल से ढँकता है, तो कभी पशुचर्म से और कभी तो वह शुद्ध ज्ञान का वस्त्र धारण कर लेता है। कभी वह पागल के जैसा प्रतीत होता है, तो कभी शिशु के समान और कभी तो वह पिशाच की भाँति गन्दा दिखाई देता है। इस प्रकार वह प्रात:कालीन वायु के समान स्वच्छन्द तथा ओस-कणों के समान तरो-ताजा रहकर सबके लिए शान्ति तथा आनन्द की कामना करता हुआ पृथ्वी पर उन्मुक्त रूप से विचरण करता रहता है।

❑❑❑

तीन कविताएँ

देवेन्द्र कुमार मिश्रा, छिन्दवाड़ा (म.प्र.)

– १ –

दुनियावी दाने के लोभ में
हर बार फँस जाता है पंक्षी
और फिर भोगता है
मान-अपमान, पीड़ा, कष्ट
गिड़गिड़ता है देवी-देवताओं
के सम्मुख, रिहाई के लिए
किन्तु पिंजरा मजबूत है
आदमी के विकारों की देन है
भगवान करें भी तो क्या?
बोया तो काटना ही पड़ेगा
जप से, तप से, प्रार्थना से -
सहते-झेलते पिंजरा
कमजोर होकर टूटने
को होता है
फिर नई इच्छायें
फिर नया पिंजरा।

– २ –

तुम्हें कौन बाँध सकता है
तुम्हें कौन रोक सकता है
उफनती नदी के जल को
बाँध कहा रोक सके हैं
तुम तूफान हो
रास्ते के वृक्ष गिर जायेंगे
तुम अपनी कैद तो छोड़ो
तुमने स्वयं बाँधा है अपने को जंजीरों में
जकड़ रखा है, अपने आप को विकारों के
मोटे-मोटे रस्सों में
तुम कसमसाते हो, कराहते हो
याचना प्रार्थना करते हो
पर सब व्यर्थ
किसी के करने से कुछ नहीं होगा
तुम्हें ही काटने होंगे ये बन्धन
तुम्हारे ही तो बुने हैं ये जाल
तुम जोर लगाओ
कोशिश करो
निश्चय ही विजय होगी।

– ३ –

हम सृजनकर्त्ता ब्रह्मा
हम पालनकर्त्ता विष्णु
हम विनाशकारी शंकर
हमारे ही ताने-बाने
हमारे ही तामझाम
और हम ही हैरान परेशान
हमने ही पिंजरा बनाया
हमने ही ताला लगाया
फिर मुक्ति की कामना
किससे और क्यों?
फिर पत्थरों के सम्मुख
गिड़गिड़ाकर पागलपन का
प्रदर्शन क्यों?
हम मुक्त होना चाहते हैं
हम मुक्त होना चाहते हैं
फिर भी हम मुक्त नहीं होते
मुक्त नहीं होने देता
हमें हमारा मोह
बन्धनों को काटना होगा
पंख आजाद होंगे
और पंछी उड़ जायेगा॥

सन्तोष धन याचिये

स्वामी प्रपत्त्यानन्द

वामन भगवान के तीन पग भूमि माँगने पर राजा बलि ने उनसे कहा – "मेरे पास जो एक बार याचना करता है, उसे पुन: कहीं अन्यत्र कुछ माँगने की आवश्यकता नहीं पड़ती। अत: अपनी आवश्यकतानुसार आपको जो कुछ भी इच्छा हो, उसे माँग लीजिये, मैं उसे आपको प्रदान करूँगा।" इसके उत्तर में वामन भगवान ने जो महत्त्वपूर्ण वाक्य कहा, वह मानव-जीवन में शान्ति-प्राप्ति की कुंजी है। वामन भगवान ने कहा – **"त्रिभि: क्रमै: असन्तुष्टो द्वीपने अपि न पूर्यते"** – 'हे राजन्! जिस व्यक्ति को तीन पग भूमि से सन्तोष नहीं होगा, वह सम्पूर्ण पृथ्वी को पाकर भी सन्तुष्ट नहीं हो सकता।' वामन भगवान की वह वाणी आज भी हमारे अशान्त जीवन में शान्ति लाने में सर्वसमर्थ है। समस्त अशान्ति के मूल में सन्निहित है असंतुष्टि, संतोष का अभाव।

एक दिन एक बच्चे ने मुझसे प्रश्न पूछा – 'महाराज, असंतोष किसे कहते हैं और संतोष की प्राप्ति कैसे होगी? क्या सन्तुष्ट होना विकास का लक्षण है?' और उसने इन्द्र और असुरों की घटना को उद्धृत करते हुये कहा कि यदि इन्द्र पहले ही सन्तुष्ट हो जाते तो उन्हें तत्त्वज्ञान नहीं होता। मैंने सोचा – 'अब इस बच्चे को कैसे समझाऊँ।' मैंने उसे कहा – 'यदि चार कलम और चार नोट-बुक से काम चल जाय, तो पाँचवें की इच्छा करना असंतोष है। यदि तीन सेट कपड़े से दैनन्दिन जीवन निर्बाध चलता हो, तो चौथे की कामना करना असंतोष है। एक जोड़े चपल और दो जोड़े जूते, एक घड़ी से काम चल जाय तो इससे अधिक की इच्छा असंतोष को जन्म देती है। यदि विद्यालय जाने के लिये एक साइकिल से काम चल जाय तो, एक मोटर साइकिल की कामना असंतोष है। यदि घर में एक टी. वी., एक फोन, कार्यालय में एक कम्प्यूटर, संस्था में एक गाड़ी, आदि से कार्य का सुसंचालन अबाध गति से हो रहा हो तो इससे अधिक की कामना करना असंतोष है। संक्षेप में आवश्यकता से अधिक वस्तुओं की कामना करना असंतोष है, तथा इसकी पूर्त्ति का प्रयास करना अशान्ति को आमन्त्रण देना है। आवश्यकता से अधिक वस्तुओं की कामना नहीं करने से, आवश्यकता से अधिक वस्तु को अपने पास नहीं रखने से संतुष्टि की प्राप्ति होती है। वह व्यक्ति संतोष की उपलब्धि करता है।

चिन्तन करें, किन्तु चिन्ता नहीं। ज्ञान-प्राप्ति हेतु जिज्ञासा करें, किन्तु कुतर्क नहीं। जिज्ञासा से ज्ञान की वृद्धि होती है, लेकिन कुतर्क और असंतोष से अशान्ति और दु:ख होता है। संतोष से सुख, शान्ति और आनन्द मिलता है।

संसारिक भोग्य-वस्तुओं की कामना न कर ज्ञान-प्राप्ति की जिज्ञासा उत्पन्न करनी चाहिए, जिससे पूर्ण आत्मतुष्टि मिलती है। जब भौतिक पदार्थों से मन कुछ संतुष्ट होता है, तब आन्तरिक आध्यात्मिक जिज्ञासा उठती है। तब व्यक्ति संतोष-से-संतोषतर की ओर अग्रसर होता है। जब व्यक्ति अपने अन्तस्थ परमात्मा की अनुभूति कर लेता है, तभी वह पूर्णत: संतोष की उपलब्धि करता है, आत्मतुष्ट हो आत्यन्तिक सन्तुष्टि प्राप्त करता है।

संत रविदास जी संतोष को ही श्रेष्ठ सुख से संज्ञित करते हुये कहते हैं –

जो कोउ लोरै परम सुख, तउ राखै मन संतोष।
'रविदास' जहाँ संतोष है, तहाँ न लागै दोष।।
सत संतोष अरु सदाचार, जीवन को आधार।
'रविदास' भये नर देवते, जिन तिआगे पंचबिकार।।

'यदि कोई परम सुख को पाने की आकांक्षा करता है, तो उसे अपने मन में संतोष रखना चाहिये। जो संतोषी होता है, उसमें कोई दोष नहीं रहता। रविदास जी कहते हैं कि जो व्यक्ति जीवन के आधार सत्य, संतोष और सदाचार को अपने जीवन में अपनाता है और काम-क्रोध-मद-लोभ-मोह का परित्याग करता है, वह नरदेव बन जाता है।'

मनुष्य की अनन्त इच्छायें हैं, असंख्य वासनायें हैं। उसके चित्त में अपरिमित कामनायें उदित होती रहती हैं। यदि हम इनकी ही पूर्ति में लगे रहें, तो ८४ लाख योनियाँ भी कम पड़ेगीं। क्योंकि –

धनेषु जीवितव्येषु स्त्रीषु चाहारकर्मसु।
अतृप्त: प्रणिन: सर्वे याता यास्यन्ति यान्ति च।।

'धन, आयु, स्त्री और आहार-सम्बधी विषयों से सभी प्राणी अतृप्त रहकर इस लोक से प्रयाण कर गये, अभी भी इस संसार में प्राणी इन सबसे अतृप्त हैं और भविष्य में भी अतृप्त रहेंगे।' कभी भी कामनाओं की पूर्ति से कामनायें शान्त नहीं होतीं। वे तो कामनाओं के त्याग से शान्त होती हैं। मनुष्य निष्काम होकर ही सुख का अनुभव करता है। राजा भतृहरि जी धनी और गरीब की परिभाषा देते हुए लिखते हैं –

स तु भवति दरिद्रो यस्य तृष्णा विशाला।
मनसि च परितुष्टे कोऽर्थवान को दरिद्र:।।

– 'जिसकी तृष्णा विशाल है, वही दरिद्र, गरीब है। यदि मन में संतोष है, तो कौन धनी और कौन दरिद्र?'

अत: व्यक्ति को संतोषी होना चाहिए। इसकी शुरुआत हमं अपने दैनिक जीवन में व्यवहृत छोटी-छोटी वस्तुओं से

करें। जब छोटी-छोटी इच्छाओं से मन क्षुब्ध नहीं होगा, संतुष्ट रहेगा, तब उसमें विवेक का उदय तथा ज्ञान-प्राप्ति, ईश्वर-दर्शन की, जिज्ञासा उत्पन्न होगी और जिसकी प्राप्ति के बाद व्यक्ति को आत्म-संतोष का बोध होगा। उसे फिर कुछ पाना शेष नहीं रह जायेगा। वह चिर संतुष्ट हो जायेगा। इसीलिए कहा गया है कि –

गोधन गजधन बाजिधन और रतन-धन खान।
जब आवै सन्तोष धन सब धन धूरि समान।।

पूज्यपाद भगवान शंकराचार्य जी (प्रश्नोत्तरी श्लोक-५) में कहते हैं – **श्रीमांश्च को यस्य समस्त तोषः** – 'धनी कौन है? – जो सब प्रकार से संतुष्ट व्यक्ति है वही धनी है।' सभी धनों में सर्वश्रेष्ठ धन है संतोष धन। क्योंकि इसकी प्राप्ति के बाद कुछ पाना शेष नहीं रहा जाता। एक सुभाषित है – **संतोष एव पुरुषस्य परं निधानम्** – 'संतोष ही व्यक्ति का सबसे बड़ा धन है। इसलिए निश्छल होकर परमात्मा से संतोष धन की ही याचना करनी चाहिए –

संतोष धन याचिये जो प्रभु हों अनुकूल।
ज्ञान-भक्ति प्रभु-पद मिलै और सर्व सुख मूल।।

❑❑❑ ❑❑❑ ❑❑❑ ❑❑❑ ❑❑❑ ❑❑❑ ❑❑❑ ❑❑❑ ❑❑❑ ❑❑❑ ❑❑❑ ❑❑❑ ❑❑❑

पुनर्जन्म – एक वैज्ञानिक विवेचन

डॉ० ए० पी० राव

(लेखक एवरेस्ट ईंजीनियरिंग कॉलेज, काठमाण्डू के पूर्व प्राचार्य और सम्प्रति एल.एन.सी.टी. भोपाल में भौतिकी के विभागाध्यक्ष हैं।)

जन्म और मृत्यु इतने गूढ़ विषय कहे जाते हैं कि उन्हें समझने के लिये विज्ञान से परे जाना पड़ता है। वैसे वैज्ञानिक बरसों से इसे समझने का प्रयत्न करते हुए लगातार प्रयोग करते रहे हैं। ऐसी स्थिति में पुर्नजन्म के बारे में विज्ञान-युक्त तर्क खोजना थोड़ा कठिन ही जान पड़ता है। विभिन्न धर्मग्रन्थ भी पुर्नजन्म के सिद्धान्त पर एकमत नहीं हैं। एक मतानुसार आत्मा ब्रह्माण्डीय ऊर्जा का एक हिस्सा है। वह उर्जा अपने आप को जीव के द्वारा प्रकट करती है और फिर जीव को छोड़कर ब्रह्माण्ड में विलीन हो जाती है। एक अन्य मतानुसार आत्मा ब्रह्माण्डीय उर्जा का एक अंश नहीं हो सकता, क्योंकि उस उर्जा के प्रगटीकरण के विभिन्न स्तर हैं, उसके हिस्से नहीं, जिन्हें अलग टुकड़ा माना जाय। अतः पुर्नजन्म का अस्तित्व है ही नहीं। उदाहरण के लिए समुद्र की उठती-गिरती लहरों को यदि हम विविध जीव मानें, तो लहरें अलग-अलग बनती हैं, मिटती हैं, पर हैं तो समुद्र के भीतर ही। एक लहर के मिटने पर जब दूसरी बनती है, तो ऐसा नहीं है कि पानी के वे ही अणु उपयोग में आते हों। इसी तरह जन्म-मृत्यु एक ही बार होता है, पुनर्जन्म कल्पना है।

आइये देखें, विज्ञान के पास इस विषय में कहने को क्या है? औषध-विज्ञान के अनुसार मानव मस्तिष्क में 'प्रोटोप्लाज्म' नामक कोशिकाएँ होती हैं। व्यक्ति की याददाश्त, स्मृति और बुद्धिमानी का सीधा इन्हीं से सम्बन्ध होता है। साधारण मनुष्य में मात्र २ से ८ प्रतिशत तक और अतिशय बुद्धिमान मनुष्यों (जैसे आईस्टाईन आदि वैज्ञानिकों) में १५-३० प्रतिशत तक ही ये कोशिकायें सक्रिय होती हैं। जबकि किसी घटना या दुर्घटनावश कोई कोशिका जाग्रत या क्रियाशील हो जाती है, तो व्यक्ति को उस समय की स्मृति हो आती है, जिस समय वह सेल किसी जानकारी से भरी गई थी। यह समय कई घटनाओं में एक मनुष्य की आयु से अधिक पाया गया है। शास्त्रों के मतानुसार, व्यक्ति की मृत्यु के पश्चात् आत्मा अपने साथ संस्कार ले जाती है, जो पूर्वसंचित की तरह अगले जन्म के नवीन शरीर में रहते हैं। कुछ वर्ष पूर्व तक इसे वैज्ञानिक मान्यता देना कठिन था, क्योंकि यदि आत्मा ऊर्जा है, तो वह कोई भी द्रवीय गुण (प्रोटोप्लाज्म) अपने साथ कैसे ले जा सकती है! प्रोटोप्लाज्म मस्तिष्क का हिस्सा है और मस्तिष्क एक पदार्थ है। विचार या स्मृति या कोई घटना पदार्थ नहीं, ऊर्जा का रूप है। पिछले दिनों सोवियत रूस के वैज्ञानिकों ने शोध किया, जिसके लिये उन्हें नोबल पुरस्कार से सम्मानित भी किया गया। उन्होंने पाया कि पानी के अणुओं की विशेष वैज्ञानिक परीक्षा करके यह पता लगाया जा सकता है कि यह भूतकाल में कब और किस अवस्था में था। यानि क्या वह अणु पहले कभी बर्फ रूप में था या वाष्प रूप में था? यह अणु तो पदार्थ है, फिर भी अवस्था परिवर्तन की स्मृति रखता है। क्या आत्मा के सम्बन्ध में धर्मशास्त्र यही बात नहीं कहते! उनका कहने का तरीका अलग है, पर बात तो वही है और इस वैज्ञानिक शोध के बाद हम कह सकते हैं कि यह बात वैज्ञानिक भी है। इस प्रकार के वैज्ञानिक शोधों से पुनर्जन्म की विस्तृत व्याख्या करके हम उसे समझ सकते हैं।

इस तरह हम पाते हैं कि विज्ञान की नित नयी खोजें उसे दर्शन और अध्यात्म के नजदीक ला रही हैं। क्या हम दर्शन और धर्मग्रन्थों में पहले से मौजूद ज्ञान का उपयोग कर विज्ञान को अधिक समृद्ध बनाने की चेष्टा नहीं कर सकते?

❑❑❑

किशनगढ़ और अजमेर में

स्वामी विदेहात्मानन्द

(१८९३ ई. में अमेरिका के शिकागो नगर में आयोजित सर्व-धर्म-महासभा में पहुँचकर अपना ऐतिहासिक व्याख्यान देने के पूर्व स्वामी विवेकानन्द ने एक अकिंचन परिव्राजक के रूप में उत्तरी-पश्चिमी भारत का व्यापक भ्रमण किया था। इस लेखमाला में प्रस्तुत है – विविध स्रोतों से संकलित तथा कुछ नवीन तथ्यों से संबलित उनके राजस्थान-भ्रमण तथा वहाँ के लोगों से मेल-जोल का रोचक विवरण। – सं.)

किशनगढ़ में

जयपुर से अजमेर के मार्ग पर वहाँ से १८ मील पूर्व किशनगढ़ की रियासत पड़ती है। स्वामीजी सम्भवत: पहले किशनगढ़ होकर तदुपरान्त अजमेर-पुष्कर गये होंगे। किशनगढ़ के विवेकानन्द समिति द्वारा १९८२ में प्रकाशित स्मारिका[१] 'स्वामी विवेकानन्द और किशनगढ़' (पृ. ९) में लिखा है – "जनश्रुति के अनुसार अमेरिका-यात्रा से लगभग दो वर्ष पूर्व अपने पैदल भारत-भ्रमण के समय अलवर के महाराजा मंगलसिंह जी का पत्र लेकर स्वामीजी प्रथम बार किशनगढ़ पधारे थे तथा यहाँ महाराजा शार्दूलसिंह जी के अतिथि बने थे।"

१९४८ में इस पूरे रियासत का क्षेत्रफल ८३७ वर्गमील तथा जनसंख्या १,०४,१२७ थी। जोधपुर के एक राजकुमार ने इसकी स्थापना की थी। १९४१ में किशनपुर नगर की जनसंख्या १४,४५९ थी। वहाँ लगभग एक वर्गमील क्षेत्र में फैले गुंडराव झील के तट पर स्थित किशनगढ़ नगर तथा किले का दृश्य अत्यन्त मनोहर है। वेदान्त के द्वैताद्वैत सम्प्रदाय के प्रवर्तक निम्बार्काचार्य का प्रमुख पीठ किशनगढ़ के पास ही स्थित है। सम्भव है स्वामीजी ने उक्त मठ में जाकर वहाँ की परम्परा का अवलोकन किया हो तथा वहाँ के आचार्यों से भेंट भी की हो। कुछ वर्षों बाद वे एक बार पुन: किशनगढ़ पधारे थे और तदुपरान्त अध्ययन हेतु निम्बार्काचार्य कृत वेदान्त-भाष्य के ग्रन्थों को प्राप्त करने का प्रयास किया था। किशनगढ़ से स्वामीजी ने अजमेर तथा पुष्कर के लिये प्रस्थान किया।

अजमेर में दो सप्ताह

(सम्भवत: १४ से २९ अप्रैल तक)

स्वामीजी की पुरानी अंग्रेजी तथा बँगला जीवनी के अनुसार वे जयपुर से सीधे माउंट आबू गये और वहाँ से अजमेर आकर पुन: माउंट आबू चले गये। परन्तु अब यह सर्वमान्य है कि वे पहले अजमेर तथा पुष्कर में ठहरकर उसके बाद ही माउंट आबू गये थे, क्योंकि १४ अप्रैल को अजमेर से लाला गोविन्दसहाय विजयवर्गीय (१८६६-१९२५ ई.) के नाम लिखा स्वामीजी का एक पत्र मिलता है, जिसकी एक पंक्ति मात्र ही उपलब्ध है और उसे हम पहले उद्धृत कर आये हैं।

इस पत्र से यह ज्ञात नहीं होता कि स्वामीजी अजमेर में कहाँ और कितने दिन ठहरे थे, केवल यही महत्त्वपूर्ण सूचना मिलती है कि १४ अप्रैल को या उसके दो-एक दिन पूर्व ही वे अजमेर पहुँच चुके थे। उपरोक्त तथ्यों के आधार पर हमारा अनुमान है कि स्वामीजी लगभग १० अप्रैल (१८९१) को जयपुर से चलकर २-३ दिन किशनगढ़ में बिताने के बाद १३ या १४ अप्रैल को अजमेर पहुँचे होंगे।

प्राचीन काल में अजयमेरु के नाम से प्रसिद्ध अजमेर नगर ७वीं शताब्दी के प्रथम चरण में चौहान वंश के संस्थापक अजयपाल द्वारा बसाया गया था। मेवाड़, अकबर तथा मारवाड़ के अनेक शासकों के अधीन रहने के बाद १८८१ ई. में यह अंग्रेजों के आधिपत्य में चला गया। स्वामीजी ने वहाँ अकबर का महल और मुसलमान फकीर ख्वाजा मोइनुद्दीन चिश्ती के दरगाह का अवलोकन किया। यह दरगाह तारागढ़ पहाड़ी की तलहटी में बना है। पहाड़ी की निचली ढाल पर मस्जिद में परिवर्तित एक प्राचीन जैन मन्दिर है, जिसके खण्डहर अब भी प्राचीन भारतीय कला के उत्कर्ष की याद दिलाते हैं। इसके कुल चालीस खम्भे हैं और प्रत्येक में भिन्न-भिन्न प्रकार की नक्काशी है। तारागढ़ पहाड़ी की चोटी पर एक दुर्ग भी है। (हिन्दी विश्वकोश, भाग १, पृ. ८५)

स्वामीजी के अजमेर-प्रवास पर कुछ जानकारी हमें प्राप्त होती है अजमेर के ही गवर्नमेंट कॉलेज के इतिहास विभाग की प्राध्यापिका श्रीमती डॉ. नन्दिता चैटर्जी भार्गव से। उन्होंने हिन्दी 'विवेक-शिखा' मासिक के मार्च १९९१ (पृ. २६-२८) अंक में प्रकाशित 'एक अविस्मरणीय घटना' शीर्षक लेख में स्वामीजी के अजमेर-प्रवास पर कुछ प्रकाश डाला है। उन्होंने वर्तमान लेखक को अपने मूल बँगला लेख की

१. रामकृष्ण मिशन, जयपुर के सचिव श्रीमत् स्वामी पूज्यानन्द जी के सौजन्य से प्राप्त।

एक प्रति भी उपलब्ध कराया है। इस लेख में निरूपित तथ्यों की प्रामाणिकता के विषय में कुछ भी कह पाना असम्भव है, तथापि अन्य विवरणों के अभाव में हम यहाँ उसी का सार-संक्षेप प्रस्तुत कर रहे हैं। उनका कहना है –

"तीर्थराज पुष्कर जाने के लिए अजमेर आना पड़ता है। प्राचीन काल से ही भारत के दूर-दूर के प्रान्तों से संन्यासी तथा गृहस्थ तीर्थयात्री अजमेर आते रहे हैं। यहीं से पुष्कर जाने के लिए सवारी प्राप्त होती है। उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम भाग में रेल मार्ग बिछाए जाने के बाद दिल्ली तथा जयपुर से गुजरात, महाराष्ट्र तथा पश्चिमी मध्य प्रदेश की ओर जाने के लिए अजमेर होकर ही जाना पड़ता था। अँग्रेजी राज्य होने के कारण यहाँ आवागमन की जो सुविधाएँ थीं, वे राजस्थान के अन्य भागों में उपलब्ध नहीं थीं। ...

"जब अप्रैल के महीने में एक दिन स्वामीजी पहली बार अजमेर आए, तब लेखिका के ताऊ श्री अमरनाथ चट्टोपाध्याय को उनके पादपद्मों में बैठने का तथा उनके स्नेहाशीर्वाद प्राप्त करने का परम सौभाग्य प्राप्त हुआ था। उन दिनों आगरे की ओर से रेलगाड़ी जयपुर होती हुई दिन के मध्य भाग में अजमेर आ पहुँचती थी। बहुधा उसमें वृन्दावन तथा अन्यान्य स्थानों की ओर से, पुष्कर जाने के लिए, बंगाल प्रान्त के साधु वैष्णवगण आते थे। जिस स्थान पर पुष्कर जाने के लिए बैलगाड़ियों की सवारियाँ प्राप्त होती थीं, वहाँ एक बड़ा सा मैदान था (यह स्थान घास-कटला के नाम से जाना जाता है और अभी भी वहाँ पर थोड़ा-सा खुला हुआ स्थान है। अत: यात्री वहीं आकर सवारी की प्रतीक्षा करते थे)।

"उसी स्थान के समीप मदनगोपाल दे विश्वास नाम के बंगाली सज्जन रहते थे। विश्वास महाशय की परम भक्तिमती पत्नी सुदूर बंगाल से आनेवाले साधु-वैष्णवों को भोजन करवातीं तथा उनके अन्य सुख-सुविधा की व्यवस्था करतीं। वे नित्य ही, आगरा से आनेवाली गाड़ी की प्रतीक्षा करती थीं और यह देख लेने के पश्चात् ही कि कोई साधु आया है या नहीं, वे स्वयं भोजन करने बैठतीं। श्रीमती विश्वास का यह नित्य का ही नियम था। ऐसे ही एक दिन दोपहर को श्रीमती विश्वास यह सोचकर कि गाड़ी तो आ पहुँची है और पुष्कर की ओर जानेवाले यात्री भी मैदान में एकत्रित हो रहे हैं, पर आज कोई साधु-सन्त नहीं आया है – यह सोचकर वे भोजन के लिए बैठने ही वाली थीं कि उनके मन में आया कि एक बार पुन: झाँककर देख लेना उचित होगा। जैसे ही वे बाहर की ओर गईं, तो देखा कि एक अद्‌भुत व्यक्तित्ववाले तरुण बंगाली संन्यासी पुष्कर जानेवाले यात्रियों के बीच बैठे हैं। उन्होंने तत्काल स्वामीजी को बुलवा लिया और उनके स्नान-भोजन आदि की व्यवस्था की। विश्वास परिवार जिस मुहल्ले में रहता था, वह घोषी मुहल्ले के नाम से परिचित था।

"विश्वास महाशय और उनकी पत्नी स्वामीजी से प्रभावित हो गए। बातचीत के बाद उन्हें यह भी मालूम हुआ कि स्वामीजी उनके दूर के सम्बन्धी भी हैं। उन्होंने स्वामीजी को, पुष्कर जाने से पूर्व, उनके निवास-स्थान में कुछ दिन विश्राम करने का आग्रह किया। उनके विशेष आग्रह पर स्वामीजी वहाँ चार दिन ठहर गए। उन दिनों अजमेर में मात्र चार बंगाली परिवार रहते थे। शीघ्र ही सबको सूचना मिल गई कि एक विशाल-हृदय तरुण संन्यासी आए हैं। अत: सभी उनके पास आ पहुँचे। तीन-चार दिन तक विश्वास-गृह मानो एक आनन्द उत्सव से मुखरित हो उठा। स्वामीजी कभी अपने स्वर्गीय मधुर कण्ठ से भजन गाते, कभी धार्मिक चर्चा तो कभी प्रवासी बंगालियों की आर्थिक-सामाजिक समस्याओं पर चर्चा करते। इन्हीं समस्याओं की चर्चा करते हुए स्वामीजी ने खेद प्रकट करते हुए कहा कि भारत के सभी तीर्थ-स्थानों में विभिन्न प्रान्तों के निवासियों ने तीर्थयात्रियों की सुविधा के लिए धर्मशालाएँ बनावाई हैं, यथा मारवाड़ी धर्मशाला, पंजाबी धर्मशाला, गुजराती धर्मशाला, नेपाली धर्मशाला आदि; परन्तु बंगाली लोग इस दिशा में बिल्कुल उदासीन हैं। यदि प्रवासी बंगालियों की चेष्टा से अजमेर में धर्मशाला बन जाए, तो उधर के सैकड़ों तीर्थयात्रियों को बड़ी सुविधा होगी।

"स्वामीजी की यह बात अमरनाथ को सदा स्मरण रही। इस घटना के बहुत बर्षों के बाद, नौकरी से अवकाश ग्रहण करने के उपरान्त, उन्होंने अजमेर तथा पुष्कर में धर्मशालाएँ बनवाने का संकल्प किया। अमरनाथ ने अजमेर के बंगाली लोगों की एक धर्मशाला कमेटी बनवायी। अथक परिश्रम कर सैकड़ों लोगों से चन्दा एकत्रित कर बीसवीं शताब्दी के दूसरे दशक में अजमेर में एक धर्मशाला बनवा ही लिया। स्वामी विवेकानन्द के श्रीमुख से नि:सृत वाणी को साकार रूप मिला। अजमेर में धर्मशाला बनवाने के बाद अमरनाथ चट्टोपाध्याय ने चन्दा एकत्र करके पुष्कर में ब्रह्माघाट के पास भी एक धर्मशाला बनवाया। यह कार्य उन्होंने स्वामीजी की प्रेरणा और दिशा प्राप्त करके ही किया था। ये धर्मशालाएँ स्वामीजी की ही मनोकामना की पूर्ति रूप हैं।"

अजमेर से सात मील की दूरी पर हिन्दुओं का एक प्रमुख तीर्थ पुष्कर है। इसकी गणना पंचतीर्थों व पंच-सरोवरों में की जाती है। प्रधान पुष्कर सरोवर से सरस्वती नदी निकलती हैं। पूरे भारत में एकमात्र वहीं पर सृष्टिकर्ता चतुर्मुख ब्रह्मा का मन्दिर बना हुआ है, जो सरोवर से थोड़ी ही दूरी पर स्थित है। पुष्कर सरोवर के एक ओर की पहाड़ी की चोटी पर सावित्री देवी का मन्दिर है और दूसरी ओर की एक चोटी पर गायत्री देवी का मन्दिर उल्लेखनीय है। सावित्री देवी की प्रतिमा अत्यन्त तेजोमय है। स्वामीजी ने वहाँ जाकर अवश्य ही इन महत्त्वपूर्ण मन्दिरों में दर्शन किया होगा। ❖ (क्रमशः) ❖

बड़ौदा (गुजरात) में रामकृष्ण मिशन का नया केन्द्र

१८९२ ई. में स्वामी विवेकानन्द जी तत्कालीन बड़ौदा राज्य के दीवान के अतिथि थे। उस समय वहाँ का दिलाराम बँगला उनके पदरज से धन्य हुआ था। १८ अप्रैल २००५ को पावन रामनवमी के दिन गुजरात सरकार ने इस ऐतिहासिक भवन को औपचारिक रूप से रामकृष्ण मिशन को सौंप दिया। बड़ौदा में शाम को गाँधीनगर सभागृह में एक विशाल समारोह का आयोजन किया गया, जिसमें गुजरात के मुख्यमन्त्री श्री नरेन्द्रभाई मोदी ने बड़ी संख्या में उपस्थित सरकारी अधिकारियों, बड़ौदा के सुप्रतिष्ठित नागरिकों एवं अन्य निमन्त्रित अतिथियों की उपस्थिति में इस ऐतिहासिक बँगले की चाभी कार्यालयीय प्रपत्रों के साथ रामकृष्ण मठ-मिशन के उपाध्यक्ष स्वामी आत्मस्थानन्द जी को सौंप दी। यह बँगला सरकार ने स्वामी विवेकानन्द-स्मारक बनाने के लिए रामकृष्ण मिशन को ३० वर्षों के लिए लीज पर दिया है। इसके साथ ही रामकृष्ण मिशन का एक नया केन्द्र भी खुल गया है, जिसका नाम रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द स्मारक, बड़ौदा है।

इस समारोह के दिन नये मन्दिर में श्रीरामकृष्ण, श्रीमाँ सारदा देवी और स्वामी विवेकानन्द की प्रातः मंगल आरती की गयी। उसके बाद श्रीमत् स्वामी आत्मस्थानन्द जी महाराज, स्वामी शिवमयानन्द जी, स्वामी आदिभवानन्द जी, स्वामी ध्रुवेशानन्द जी, स्वामी निखिलेश्वरानन्द जी तथा अन्य अतिथि संन्यासियों एवं बड़ी संख्या में विद्यमान भक्तों की उपस्थिति में पूजा और विशेष होम सम्पन्न हुआ। होम के बाद दोपहर में ४०० से अधिक भक्तों ने प्रसाद ग्रहण किया।

शाम को ६.३० बजे मुख्यमंत्री नरेन्द्र मोदी ने स्वामी विवेकानन्द के बड़े आकारवाले ३६ चित्रों की प्रदर्शनी का उद्घाटन किया, जिसमें चित्रों के नीचे उनका संक्षिप्त विवरण भी उल्लिखित है। इसका उद्घाटन स्वामी आत्मस्थानन्द जी, स्वामी शिवमयानन्द जी और अन्य संन्यासियों तथा भक्तों की दिव्य तथा भव्य उपस्थिति में किया गया।

अपने स्वागत-भाषण में स्वामी निखिलेश्वरानन्द जी ने कहा – यह महान् स्वप्न आत्मस्थानन्द जी महाराज की सतत प्रेरणा और आशीर्वाद से, नरेन्द्र मोदी जी एवं गुजरात सरकार के पदाधिकारियों, असंख्य भक्तों एव मित्रों के अथक प्रयास से साकार हुआ। स्वामी शिवमयानन्द जी ने रामकृष्ण मिशन के परम अध्यक्ष स्वामी रंगनाथानन्द जी महाराज एव महासचिव स्वामी स्मरणानन्द जी महाराज का सन्देश पढ़कर सुनाया।

मुख्यमंत्री नरेन्द्र मोदी अपनी छात्रावस्था से ही स्वामी आत्मस्थानन्द जी महाराज से जुड़े थे। उन्होंने कहा – "स्वामी विवेकानन्द का दिव्य व्यक्तित्व और सन्देश असंख्य लोगों को, विशेषकर युवकों को निरन्तर प्रेरित करता रहेगा, क्योंकि उनके उपदेश कालजयी और शाश्वत हैं। श्रीरामकृष्ण और स्वामी विवेकानन्द के 'शिवभाव से जीव की सेवा' के सन्देश ने सम्पूर्ण विश्व को प्रेरणा प्रदान की है और मेरा विश्वास है कि यह केन्द्र भी इस महान् परम्परा को अक्षुण्ण रखेगा और यह महान् सास्कृतिक नगर इस स्मारक की सेवा तथा क्रिया-कलापों से लाभान्वित होगा।

स्वामी आत्मस्थानन्द जी महाराज ने मुख्यमंत्री श्री नरेन्द्र मोदी से दिलाराम बंगले की कुंजी और प्रपत्र प्राप्त कर नये केन्द्र के मनोनित सचिव स्वामी निखिलेश्वरानन्द जी को सौंप दिया। उन्होंने कहा कि मैं अपने इस आनन्द की अभिव्यक्ति शब्दों में नहीं कर सकता। उन्होंने श्रीरामकृष्ण, श्रीमाँ सारदा और स्वामीजी से स्वामी विवेकानन्द की इस ऐतिहासिक स्मारक से बड़ौदा और गुजरात के लोगों के सर्वांगीण विकास के लिए प्रार्थना की।

अन्त में रामकृष्ण मिशन आश्रम, राजकोट के अध्यक्ष स्वामी ध्रुवेशानन्द जी ने धन्यवाद ज्ञापन किया। सभा में एम. एस. विश्वविद्यालय की कुलपति श्रीमती मृणालिनी पवार, स्थानीय संसद सदस्य, विधानसभा सदस्य, जिलाधीश और पुलिस कमिश्नर आदि उपस्थित थे। शैशव विद्यालय (बड़ौदा) के बच्चों के सुन्दर गीत से कार्यक्रम सम्पन्न हुआ।

❑❑❑

Phone PBX :
(033) 2654 - 1144
(033) 2654 - 1180
(033) 2654 - 9581
(033) 2654 - 9681
FAX (033) 2654 - 4346
E-Mail - rkmhq@vsnl.com

रामकृष्ण मिशन
(राहत विभाग)
पो. बेलूड़ मठ, जिला - हावड़ा
पश्चिमी बंगाल ७११ २०२

गुजरात में बाढ़-राहत-कार्य

(६ जुलाई २००५ तक का एक संक्षिप्त प्रतिवेदन)

गुजरात में इस वर्ष भयंकर तथा विनाशकारी बाढ़ के बाद रामकृष्ण मिशन ने तत्काल - ३० जून-२००५ से ही राहत का कार्य आरम्भ कर दिया। बड़ौदा, आणंद, खेड़ा तथा अमरेली जिलों और अन्य बाढ़ग्रस्त क्षेत्रों में हमारे बड़ौदा, राजकोट तथा लिमड़ी के केन्द्र खाने के हजारों पैकेट वितरण कर रहे हैं।

(क) बड़ौदा -

१. इस जिले के पाडरा तथा कर्जन तालुकाओं के हजारों बाढ़ग्रस्त लोगों के बीच २८,६७६ सूखे भोजन के पैकेटों का वितरण किया गया।

२. बड़ौदा के यशोदानगर, गोकुलनगर, जम्बुआ, मकरपुरा, कुलाली, गोत्री, सामा तथा करेलीबाग मुहल्लों में ४५१९ भोजन के पैकेट तथा ५५०० पानी के पैकेट वितरित किये गये।

(ख) राजकोट -

इस केन्द्र ने आणंद, खेड़ा, अमरेली, सावरकुण्डला तथा गुजरात के अन्य सर्वाधिक पीड़ित अंचलों में ९५,४०१ भोजन के पैकेट, ११,१५० पानी की थैलियाँ और ३०० राहत-किट्स का वितरण किया।

(ग) लिमड़ी -

यह केन्द्र सुरेन्द्रनगर जिले के नानीकटेची, भगवानपुर, रानागढ़, फुलवारी तथा जलियारा गाँवों में भोजन के पैकेट, सूखा राशन, सब्जियाँ, पकाने का तेल, कपड़े, बर्तन, कम्बल आदि वितरित करता रहा है।

बाढ़-पीड़ितों को अनाज, सब्जियाँ, खाद्य तेल, कपड़े, बर्तन, कम्बल आदि उपलब्ध कराने और बड़ौदा, आणंद, खेड़ा, अमरेली तथा सुरेन्द्रनगर जिलों के सर्वाधिक पीड़ित अंचलों में राहत कार्य के विस्तार की व्यवस्था की जा रही है। आगे की प्रगति के रिपोर्ट की प्रतीक्षा है।

अतः हमारी आपसे अपील है कि गुजरात बाढ़ राहत कोष में उदारतापूर्वक दान करें। नगद अथवा चेक/ड्राफ्ट द्वारा प्राप्त सभी दान आयकर की धारा ८०-जी के अन्तर्गत करमुक्त हैं। चेक या ड्राफ्ट 'रामकृष्ण मिशन' के नाम कोलकाता में देय (payable) हो।

स्वामी स्मरणानन्द
महासचिव

रामकृष्ण मिशन आश्रम

नारायणपुर, जिला बस्तर (छ.ग.) 494 661 फोन (07781) 252251 टेलीफैक्स 252393
e-mail rkmanpr@sancharnet.in

नारायणपुर, दिनांक ०२ अप्रेल २००५.

निर्माणाधीन श्रीरामकृष्ण प्रार्थना मन्दिर

हेतु

— नम्र निवेदन —

पार्श्व भाग का दृश्य | अग्रभाग का दृश्य | पार्श्व भाग का दृश्य

प्रिय बन्धु,

रामकृष्ण मिशन आश्रम, नारायणपुर, विश्व-व्यापी रामकृष्ण मिशन, बेलूड मठ की अधिकृत शाखा है जो १९८५ से देश की एक अत्यन्त पिछड़ी जन-जाति 'अबुझमाडिया' के सर्वांगीण विकास के लिए बस्तर जिले के अत्यधिक पिछडे दुर्गम, सड़क विहीन अबूझमाड अंचल में अपने ५ उपकेन्द्रों के साथ कार्यरत है तथा सदियों से गरीबी, अज्ञानता, बीमारियों तथा आर्थिक शोषण के शिकार रहे आदिवासियों को इन कुरीतियों से मुक्त करने का प्रयास कर रहा है।

हमारे इन समस्त सेवाकार्यों की प्रेरणा के मूल में भगवान श्रीरामकृष्णदेव का पावन जीवन और सन्देश है। उनके प्रति समर्पित एक विशाल भव्य मन्दिर की आवश्यकता हम वर्षों से अनुभव कर रहे थे जहाँ हमारे छात्र, सहयोगीगण तथा नगर निवासी नियमित रूप से ध्यान और प्रार्थना कर सकें।

सन् १९९८ में इस प्रार्थना मन्दिर का निर्माण कार्य प्रारम्भ हुआ जिसमें प्रथम तल पर एक वृहद पुस्तकालय तथा द्वितीय तल पर भव्य प्रार्थना तथा ध्यान कक्ष निर्माणाधीन है जो आप जैसे भक्तजनों और शुभचिन्तकों के पुनीत दान से समाप्ति की ओर अग्रसर हो रहा है।

पर अभी भी इस निर्माण कार्य को पूर्ण करने के लिए ३० लाख रूपयों की आवश्यकता है। मन्दिर की प्रतिष्ठा की संभावित तारीख १० नवम्बर २००५ (श्री जगद्धात्री पूजा का दिन) निर्धारित की गई है। अतः हम आपसे अनुरोध करते हैं कि इस निर्माण कार्य को समय पर पूरा करने के लिए उदारतापूर्वक दान देने का अनुग्रह करें।

रामकृष्ण मिशन को दिया गया दान आयकर अधिनियम की धारा ८०-जी के अनुसार आयकर मुक्त है। दान विदेशी मुद्रा में भी स्वीकार किया जायेगा।

कृपया चेक या ड्राफ्ट ''रामकृष्ण मिशन आश्रम, नारायणपुर'' के नाम पर भेजें।

भगवान श्रीरामकृष्णदेव से प्रार्थना है कि हम सब पर अपने आशीर्वाद का वर्षण करें।

प्रभु सेवा में

स्वामी निखिलात्मानन्द

(स्वामी निखिलात्मानन्द)
सचिव

नम्र निवेदन

भगवान् श्रीरामकृष्ण का सार्वजनीन मन्दिर

प्रिय भक्तजन एवं सज्जनो !

स्वामी विवेकानन्द द्वारा संस्थापित रामकृष्ण संघ की एक शाखा, भारतवर्ष के मध्य-भाग में बसे हुए इस नागपुर में भी है। धन्तोली मुहल्ले में स्थित 'रामकृष्ण-मठ' नाम से विख्यात यह संस्था 'शिवज्ञान से जीवसेवा' के आदर्शानुसार विगत ७४ वर्षों से अपनी विभिन्न गतिविधियों के साथ जनता की सेवा में निरत है।

भगवान् श्रीरामकृष्ण का वर्तमान सार्वजनीन मन्दिर तथा उससे संलग्न प्रार्थना-गृह अब जीर्ण-शीर्ण हो चुका है और उसकी दीवारों में दरारें पड़ चुकी है। अब यथाशीघ्र उसके स्थान पर एक नया मन्दिर तथा प्रार्थना-गृह बनाने की आवश्यकता है। इसके अतिरिक्त दिन-दिन भक्तों की संख्या में हो रही वृद्धि के फलस्वरूप भी कुछ समय से प्रार्थना-गृह में स्थान की कमी का बोध किया जा रहा है। अत: हमने पुराने देवालय-भवन के स्थान पर एक नये विशाल मन्दिर तथा प्रार्थना-गृह बनवाने का संकल्प किया है। इस भवन का निर्माण निम्नलिखित विवरण के अनुसार होगा –

मन्दिर की लम्बाई एवं चौड़ाई	**११७'×५८'**
मन्दिर की उँचाई	**६७'**
गर्भ-मन्दिर *(पूजागृह)*	**१८.५'×१८.५'**
उपासना कक्ष *(५०० भक्तों के बैठने के लिये)*	**६७'×४०'**
दोनों ओर के बरामदे	**६७'×५'**
मन्दिर-तलघर एवं सभाभवन	**९१.५'×५१'**

इसके अलावा फीजियोथेरपी यूनिट के ऊपर की मंजिल पर भी निर्माण-कार्य होगा।

इन समस्त निर्माण-कार्यों पर कुल मिलाकर लगभग तीन करोड़ रुपयों का खर्च आयेगा, जिसके लिए यह मठ जन-साधारण से प्राप्त होनेवाले दान पर ही निर्भर है। हमारा आपसे आन्तरिक अनुरोध है कि समग्र मानवता के आध्यात्मिक तथा सर्वांगीण उन्नयन हेतु प्रस्तावित इस योजना के लिए आप उदारतापूर्वक अंशदान करें।

आप सभी पर भगवान श्रीरामकृष्ण, माँ सारदादेवी तथा स्वामी विवेकानन्दजी का आशीर्वाद वर्षित हो – इस प्रार्थना तथा शुभकामनाओं सहित –

प्रभु की सेवा में,

स्वामी ब्रह्मस्थानन्द

(स्वामी ब्रह्मस्थानन्द)
अध्यक्ष
रामकृष्ण मठ, धंतोली, नागपुर

कृपया ध्यान दें –
दान की राशि डी.डी./चेक द्वारा रामकृष्ण मठ, नागपुर के नाम पर भेजें। दान की राशि आयकर की धारा ८०-जी के अन्तर्गत आयकर से मुक्त होगी। विदेशी मुद्रा में दिया गया दान भी स्वीकार किया जाएगा।

रामकृष्ण मठ, धन्तोली, नागपुर-४४० ०१२
फोन : २५२३४२२, २५३२६९० • फॅक्स : २५३७०४२